

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186355

UNIVERSAL
LIBRARY

(31—28-4-81—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Co. H80.9
As p91H

Accession No. H. 2627

Ti

T book should be returned on or before the date last marked below

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल

लेखक—

श्री अथकिशन प्रसाद शर्मा ए० ए०

आत्माराम एन्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-वित्रेता

काश्मीरा गेट, दिल्ली-६

त्रिनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल-रोड, आगरा ।

प्रकाशक—

विनोद पुस्तक मन्दिर,
हास्पिटल रोड, आगरा ।

[सर्वाधिकार प्रकाशक के आधीन]

प्रथम-संस्करण

जुलाई—१९५६

मूल्य ३।।।)

मुद्रक—राजकिशोर, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बागमुजफ, आगरा ।

गुरुवर आचार्य पं० पद्मनारायण जी को
जिन्होंने
आधुनिक साहित्य को समझने की
नवीन दृष्टि दी ।

विषय-सूची

विना	१
'हिन्दी' हित्य का आधुनिककाल	६
आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ	२६
आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ	४६
आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ	६७
छन्द युग	६६
प्रयोग युग	१३१
प्रयोग युग	१४६
हिन्दी का विकास	१७२
हिन्दी साहित्य	१७६
हिन्दी साहित्य	१८८
हिन्दी साहित्य	१६५
हिन्दी साहित्य	२०३
हिन्दी साहित्य	२१०
हिन्दी पर एक विहंगम दृष्टि	२२५

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल साहित्य के सर्वतोमुखी विकास का काल है। इस काल में साहित्य के विषय-वस्तु और रूप-रंग में क्रान्ति हो गई। विज्ञान के चमत्कार और प्रेस के आविष्कार ने मानव सभ्यता के विकास में अपूर्व योग दिया। पाश्चात्य संस्कृति के माध्यम से हमारा देश विश्व की अनेक संस्कृतियों के सम्पर्क में आया और विज्ञान के चमत्कार यहाँ भी अपना प्रभाव दिखाने लगे। दो संस्कृतियों का संघर्ष हुआ और एक दूसरे को प्रभावित किया। विजेता की अपेक्षा विजित ने अधिक ग्रहण किया। फिर भी ऐसा नहीं है कि विजेता ने कुछ ग्रहण ही न किया हो। जहाँ तक व्यापार का सम्बन्ध है, उसने यहाँ से कच्चे माल का आयात करके उससे पक्का माल तैयार किया और अपना लेबिल लगाकर यहाँ बेचा। इसी प्रकार कुछ अंग्रेज विद्वानों ने सांस्कृतिक क्षेत्र में भी यही कार्य किया। यहाँ के दर्शन को ले जाकर उन्होंने उसे सरल एवं सुबोध बनाकर हमें समझाया। साहित्य के क्षेत्र में भी अँग्ल प्रभाव महत्वपूर्ण है। उन्होंने हमारे प्राचीन साहित्य का अन्वेषण किया और तब उनसे हमने उसके महत्व को समझा। यही प्रवृत्ति थी जिसके कारण हमने अपने प्रातःस्मरणीय साहित्य-वारिधि गोस्वामी तुलसीदास का महत्व प्रियर्सन से सीखा। इसी प्रकार और भी बहुत से प्रकरण हैं जिनका उक्त संकेतमात्र पर्याप्त है।

यह तो हुई अँग्ल दृष्टिकोण एवं प्रभाव की बात। यह उस युग की प्रमुख प्रवृत्ति थी। अब लीजिए साहित्य की परम्परा के विकास की बात। साहित्य की अपनी अखण्ड परम्परा होती है जिसके विकास में कहीं-कहीं गत्यवरोध और कहीं-कहीं विदेशी प्रभाव दिखाई पड़ते हैं, किन्तु साहित्य की अपनी प्राणधारा होती है। इस प्रकार आधुनिक काल का हिन्दी-साहित्य

पूर्णतया पश्चिम के अनुकरण पर नहीं बना है, हाँ रूप-रंग उसने पाश्चात्य साहित्य से बहुत कुछ ग्रहण कर लिया है किन्तु उसकी अपनी प्राणधारा ही इस विकास में नैरन्तर्य का कारण है। इस प्रकार साहित्य में जो गद्य का विकास हुआ, काव्य में जो यथार्थवाद, मानवतावाद, सौन्दर्यवाद, आदर्शवाद, प्रगतिवाद एवं प्रयोगशीलता को प्रश्रय मिला—यह सब साहित्य की प्राचीन परम्परा का विकास ही है जिस पर पाश्चात्य साहित्य ने पर्याप्त प्रभाव डाला। किन्तु जीवनी शक्ति सर्वत्र अपने देश की ही रही है। इसलिए जो आलोचक छायावाद को पश्चिम के रोमांटिसिज्म का हिन्दी रूपान्तर मानते हैं, प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का हिन्दी रूपान्तर मानते हैं और प्रयोगवाद को टी० एस० इलियट का अन्धानुकरण मानते हैं, वह साहित्य की अखण्ड परम्परा एवं प्रगतिशीलता के मूल सिद्धान्त को भुँठलाने का प्रयत्न करते हैं। एक तो यह बात हुई। दूसरी बात है साहित्य को युग की भावनाओं का प्रतिबिम्ब मानने की। 'साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है' इस उक्ति को साहित्य के इतिहास में चरितार्थ करने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। यह प्रवृत्ति कुछ अतिवाद का आश्रय लेती है। कलाकार को बनाने वाली विविध परिस्थितियाँ होती हैं, जैसे उसके जन्म की। जन्म की परिस्थितियों के तीन रूप हैं—काल, जाति और समाज और उसका व्यक्तिगत जीवन। एक और महत्वपूर्ण परिस्थिति उसके पारिपार्श्विक की होती है। इसके अन्तर्गत उसके पूर्ववर्ती एवं सम-सामयिक रचनाकारों का अध्ययन होता है। इन्हीं दो परिस्थितियों के बीच में कहीं युग की विचारधारा और विश्वास भी होता है। इस प्रकार कलाकार इन विविध परिस्थितियों के घात-प्रतिघात के थपेड़े खाकर अपनी कृति को बनाता-सँवारता है। कहीं-कहीं उसका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली एवं युग की विचारधारा और विश्वास से ऊँचा उठ जाता है कि वह अपने नये मान-दण्ड एवं नवीन शैली की स्थापना करके सम्पूर्ण युग को प्रभावित करता है। इतना होते हुए भी हम साहित्य की अखण्ड परम्परा एवं निरन्तर संचरित होने वाली प्राणधारा के महत्व को विविध परिस्थितियों एवं व्यक्तित्व की महानता से दबाकर उसको भुँठला नहीं सकते। इस सब विचार-वितर्क का निष्कर्ष यही है कि हिन्दी-साहित्य की अपनी एक अखण्ड परम्परा है और आधुनिककाल का

साहित्य उस परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। यह आधुनिकता की देन नहीं है वरन् आधुनिकता से प्रभावित है। इसलिए आधुनिक काल का साहित्य शृङ्गारकाल की साहित्यिक धारा का विकास है। इस विकास के मूल में आधुनिककाल को ऐसा रूप (जिसमें नवयुग की चेतना जनवादी विचारधारा के रूप में व्यक्त है) देने वाली विविध परिस्थितियाँ हैं। इन परिस्थितियों का स्वरूप विवेचन करके आधुनिक युग में विकसित साहित्यिक परम्परा का अध्ययन स पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है।

आधुनिककाल के साहित्य की कई विशेषताएँ हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता साहित्य के पर्यायवाची काव्य से भिन्न रचना-प्रणाली का विकास है। इस प्रणाली को गद्य कहते हैं। यह गद्य आधुनिक बौद्धिक युग की भावनाओं का प्रमुख वाहन है। प्रेस आधुनिकता का वाहन बना और गद्य उसका प्रमुख साहित्यिक रूप। और आज यह गद्य अपनी इस अल्प अवस्था में ही कितना अधिक विकसित हो गया है, यह आश्चर्य की बात है। यों तो आज के वैज्ञानिक युग में आश्चर्य शब्द का अर्थ बड़ी दूर तक खिंच गया है फिर भी गद्य के विविधमुखी विकास को देखकर हमें परम सन्तोष होता है। गद्य के विकास में मानव-सभ्यता का, उसकी विचार-प्रणाली का, हृदय और मस्तिष्क की होड़ का विकास निहित है। आज मस्तिष्क की शक्ति का रूप विज्ञान में देखने को मिलता है। बौद्धिकता का विकास मानव-सभ्यता के इतिहास का महत्वपूर्ण प्रकरण है। इसी प्रकार मानवतावादी दृष्टिकोण भी आज की विकसित विचारधारा का रूप है। आज सामन्ती संस्कृति का हास हो चुका है और व्यक्ति के स्थान पर समष्टि का महत्व प्रतिष्ठित हो चुका है। इसी समष्टि-मानव का विचार एवं महत्व मानवतावादी दृष्टिकोण का मूल रूप है। इस दृष्टिकोण को अपनाने के बाद सामाजिक दर्शन का सहायक बनकर वास्तविक यथार्थवाद आया जिसने व्यक्ति को समाज के बीच में देखा। यही दृष्टिकोण जब हिन्दी-साहित्य में घुल-मिल गया तो यह सिद्धान्त बना कि साहित्य वही मूल्यवान हो सकता है जो सामाजिक वास्तविकता के प्रति पूर्ण रूप से सजग एवं संवेदनशील हो। इस प्रकार साहित्य में आधुनिकता का प्रवेश जनवादी विचार-धारा को लेकर हुआ जो सामाजिक वास्तविकता पर आधारित है।

इसके साथ ही जब भारतीयों में अनाचार, उत्पीड़न सहते-सहते एक प्रतिक्रियात्मक शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ तो वह विदेशी शासन के प्रति विद्रोह कर बैठे। गीता को कर्म-संदेश का महान् ग्रन्थ मानने वाले तिलक ने इस भावना को इन शब्दों में व्यक्त किया—‘स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है।’ और इस प्रकार एक नवीन स्वतन्त्रता की भावना का जन्म हुआ, जिसने हमारे आधुनिक काल के साहित्य में विविध रूप धारण किये। कहीं यह ब्रिटेन के प्रति राजभक्ति में, कहीं स्वदेश प्रेम एवं प्राचीन-गौरव गान में, कहीं शोषित वर्ग के आन्दोलन के रूप में और कहीं सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना को लेकर बढ़ा। आज की राष्ट्रीयता बड़ी व्यापक है। इसका मूलमंत्र है विश्वशांति।

आधुनिककाल में साहित्य के दोनों अङ्गों का—काव्य और गद्य—विविध रूपी विकास हुआ है। काव्य में यह विकास विषय-वस्तु और भाषा-शैली दोनों में देखा जा सकता है। गद्य में इसके विविध रूप हुए। गद्य के विविध रूपों में नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, संस्मरणात्मक मेंट साहित्य, जीवनचरित या आत्मचरित, यात्रा वृत्तांत, समाचार वृत्त, गद्य-काव्य एवं समालोचना आदि हैं। इन रूपों के विकास की कहानी बड़ी विस्तृत है। संक्षेप में हमने गद्य के इन रूपों के विकास का विवेचन किया है।

कविता के क्षेत्र में भी बहुमुखी विकास हुआ है। यद्यपि एक अखण्ड धारा प्रवाहित है—वह है नवयुग की चेतना। आधुनिक काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए हमने इसका विचार किया है। भारतेन्दु जी के प्रादुर्भाव से ही काव्य में नवयुग की चेतना दृष्टिगोचर होने लगी थी। यह चेतना आज भी काव्य की परम्परा में कुछ विकसित होकर विद्यमान है। इसीलिए भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावादी-युग, प्रगतिवादी-युग और प्रयोगवादी-युग इन सभी कालों की कविता में—वास्तविक यथार्थ की प्रवृत्ति एवं मानवतावादी दृष्टि का विकास लक्षित होता है। वास्तविक यथार्थ की दृष्टि के फलस्वरूप समाज की राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक और धार्मिक वास्तविकताओं का उद्घाटन हुआ और मानवतावादी दृष्टि के कारण मानव का मूल्य बढ़ा, सामान्य मानव का उत्कर्ष हुआ और इस प्रकार समष्टि मानव को व्यक्ति मानव से अधिक महत्व मिला।

हिंदी साहित्य की परम्परा के आधुनिक काल की प्रमुख प्रवृत्तियों का आकलन ही मेरा लक्ष्य रहा है, इसलिए इस पुस्तक में एक इतिहासकार की शैली एवं सबको समेटकर चलने की प्रवृत्ति नहीं है। प्रमुख प्रवृत्तियों के निरूपण में सभी प्रतिभा-सम्पन्न एवं प्रतिभाशाली लेखकों का उल्लेख स्थानाभाव के कारण नहीं हो पाया है। इस पुस्तक में छायावाद के प्रवर्तक कवि जय-शङ्कर प्रसाद की कामायनी का विशेष परिचय दिया गया है। इसके दो कारण हैं पहला तो यह कि कामायनी छायावाद की अन्यतम कृति है और दूसरा यह कि छायावाद ही नहीं वरन् समस्त आधुनिक काल की काव्य-धारा में कामायनी विशेष महत्वपूर्ण है। यह आधुनिक काल का विशिष्ट काव्य है। यहीं पर मैं अपने परम पूज्य गुरुवर आचार्य पं० पद्मनारायण जी (प्राध्यापक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) का स्मरण भी आवश्यक समझता हूँ जिनके चरणों में बैठकर मैंने प्रसाद-साहित्य को समझने का प्रयत्न किया है। पूज्य आचार्य जी का स्मरण मात्र मेरे हृदय में प्रसाद-साहित्य की महत्ता उद्भासित कर देता है और मैं आज भी विभोर हो उठता हूँ।

इस पुस्तक में मैंने अपनी पूर्व प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ' नामक पुस्तक के हाल ही में प्रकाशित तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण से भी बहुत कुछ लिया है। फिर भी इसमें अपना भी बहुत कुछ है जिसके कारण यह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। यहाँ मैं उन सभी विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना भी अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनके मत मैंने उद्धृत किए हैं अथवा जिनकी विचार धारा को किसी भी रूप में अपनाया है। वस्तुतः आदिमकाल से ही लेखक अपने तत्पर चित्त पर पड़ी कोमल छापों को व्यक्त करता चला आ रहा है। कहीं-कहीं उसमें दूसरों के विचारों के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी होती है। इस पुस्तक में भी मैंने तत्पर चित्त पर पड़ी कोमल छापों एवं विचार-वर्तक से उत्पन्न प्रतिक्रिया को अभिव्यक्त किया है। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि सहृदय पाठक त्रुटियों से अवगत कराकर इसका अगला संशोधित संस्करण प्रस्तुत करने की प्रेरणा देंगे। अस्तु !

जगदीश भवन

ज्येष्ठ कृष्ण सप्तमी

—जयकिशन प्रसाद

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल

हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का प्रारम्भ सम्वत् १९०० से माना है। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रादुर्भाव भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है। हिन्दी साहित्य में नव-युग की चेतना का विकास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय दोनों ही घटनाएँ एक दूसरे से घुली मिली हैं। सच तो यह है कि भारतेन्दु जो से ही साहित्य में नवयुग की चेतना के दर्शन होते हैं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का प्रारम्भ सम्वत् १९२५ (हरिश्चन्द्र जी के रचना काल) से मानना उचित है। भारतेन्दु जी ने हिन्दी साहित्य की धारा को शृंगारकालीन परम्पराओं और रूढ़ियों के बंधन से हटाकर राष्ट्रीयता और समाज-सुधार आदि की नई दशा की ओर मोड़ा।

किसी युग के साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का उद्भव चमत्कारिक घटना के रूप में एकाएक नहीं हुआ करता, अपितु उसका बीज उस युग के वातावरण में बहुत गहरा जमा होता है और उपयुक्त परिस्थितियों से पोषण पाकर अंकुरित एवं पल्लवित हो जाता है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में नवयुग की चेतना का विकास बड़ी महत्वपूर्ण घटना है। इसका बीज इसी युग की राजनीतिक चेतना, सामाजिक अवस्था, धार्मिक परिस्थितियों एवं साहित्यिक पृष्ठ-भूमि में मिलता है।

राजनीतिक चेतना—सन् १७५७ के प्लासी युद्ध ने अंग्रेजों की नींव भारत में दृढ़ करदी और धीरे-धीरे ईस्टइण्डिया कम्पनी का शासन सारे भारत में फैल गया। ज्यों-ज्यों कम्पनी का प्रभुत्व बढ़ा त्यों-त्यों उसके अधिकारियों के अत्याचार भी बढ़े। इससे देश की जनता में बड़ा असन्तोष छा गया। इसके साथ ही कम्पनी के अधिकारियों ने देशी राज्यों को मिलाने के अनेक साधन निकाले जिसमें “लैप्स की नीति” बड़ी कुटिल सिद्ध हुई। सन् १८५४ में भाँसी को

“लैप्स की नीति” के द्वारा कम्पनी ने अपने शासन में ले लिया। इस प्रकार देश में प्रजा और देशी राजा दोनों ही कम्पनी के अत्याचारपूर्ण शासन से घबराये हुए थे। इसी बीच में ‘नए कारतूसों’ ने आकर कम्पनी की सेना में भर्ती भारतीय सिपाहियों की धार्मिक भावनाओं को बड़ी ठेस पहुँचाई और सन् १८५७ में भारतीयों ने अंगरेजों के विरुद्ध प्रथम स्वतन्त्रता युद्ध छेड़ा। एक वर्ष भी पूरा नहीं बीत पाया और दासता के प्रति किया हुआ विद्रोह दबा दिया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त करके ब्रिटेन की सरकार ने भारत का शासन अपने हाथों में ले लिया। महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की जिसमें भारतवासियों को बड़े मधुर आश्वासन दिए गए। भारतीयों में एक नवीन चेतना और आशा को लहर दौड़ गई। कम्पनी के अत्याचारपूर्ण शासन और डलहौज़ी की नीति को देखते हुए विक्टोरिया का शासन भारत की जनता के लिए बड़े सन्तोष का विषय था इसीलिए विक्टोरिया के मरने पर भारतवासियों ने बहुत दुःख माना। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में देश की जनता में अंगरेजी राज्य के प्रति राजभक्ति दिखाने और उनसे सुधार की प्रार्थना करने की प्रवृत्ति थी। पर अंगरेजी शासन में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ा और उनकी अत्याचारपूर्ण नीति में यन्त्रों के विकास के साथ ही आर्थिक शोषण और टैक्सों का एक नया अध्याय और जुड़ गया। धीरे-धीरे देश की जनता को यह पूर्ण रूप से ज्ञात हो गया कि प्रार्थनाओं का परिणाम कुछ भी नहीं होगा। इधर इण्डियन नेशनल काँग्रेस ने भारतीयों की राजनीतिक चेतना को और अधिक विकसित किया। काँग्रेस की स्थापना से जनता के सामने कुछ निश्चित राजनीतिक सिद्धान्त उपस्थित हुए जिनकी प्राप्ति के लिए देश की जनता में अदम्य उत्साह छा गया। इटली के स्वतन्त्रता युद्ध, आयरलैण्ड के ‘होमरूल’ आन्दोलन तथा फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के इतिहास ने जनता की विरोधी भावना को और अधिक उकसाया और बहुत से नवयुवक हिंसात्मक उपायों से अंगरेजी राज्य को हटाने के इच्छुक हो गए। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में नवयुग को इस राजनीतिक चेतना का प्रभाव भारतेन्दु-युग में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

इसके पश्चात् राजनीतिक चेतना का दूसरा काल सन् १९०५ से आरम्भ

होता है। अब कांग्रेस आवेदन और प्रार्थना की नरम नीति को छोड़ने लगी थी और उसने 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' की घोषणा कर दी। इसी समय कांग्रेस में दो दल हो गए—गरम दल तथा नरम दल। सच तो यह है कि कर्जन की बङ्गाल-विभाजन की भारत विरोधी नीति से राष्ट्रीय भावनाओं से पूरित भारतीय जनता की आँखें खुल गई थी और वे अँगरेजों को बड़े सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। इसीलिए जनता में प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धा और वर्तमान परिस्थितियों के प्रति क्षोभ उत्पन्न हो रहा था। नेतागण, विचारक और कवि दासता में जकड़ी हुई जनता को अतीत के गौरव का स्मरण कराकर नवीन व्यवस्था के विरुद्ध कर रहे थे। इसके लिए उन्होंने देश की सामाजिक अवस्था में सुधार करना आवश्यक समझा और यही कारण था कि उस युग के विचारक एवं कवि, अछूत, किसान तथा शोषित-पीड़ित वर्गों के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं। इस युग में भारतीय राजनीति का आधार मानवतावाद बन गया था। देश के असन्तोष को शान्त करने के लिए अँगरेजी शासकों ने समय-समय पर शासन प्रणाली में सुधार किए। सन् १९०६ में माले-मिन्टो सुधार कानून पास हुआ, इसने मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व दिया जिससे हिंदू मुस्लिम एकता को बड़ी ठेस पहुँची। बड़े प्रयत्न के बाद १९२६ में हिंदू मुस्लिम समझौता हो सका—और श्रीमती एनीबेसेंट के प्रयत्न से कांग्रेस के दोनों दलों में भी एकता हो गई। किंतु इसी बीच योरप में प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। भारतीयों ने अँगरेजों की दिल खोल कर मदद की किन्तु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् अँगरेजों ने अपने वायदे पूरे नहीं किए, उलटे रौलट ऐक्ट (१९१९) के द्वारा भारतीय जनता की स्वतन्त्रता के अधिकार छीन लिए। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के इतिहास में राजनीतिक चेतना के द्वितीय उत्थान का यह समय द्विबेदी युग के नाम से जाना जाता है।

इसके पश्चात् राजनीतिक चेतना का तृतीय काल प्रथम महायुद्ध की समाप्ति से आरम्भ होता है। महायुद्ध के बाद भीषण जन संहार के कारण मानवचित्त उद्वेलित हो रहा था, और उसके ऊपर से भारतीयों के ऊपर अँगरेजों ने 'रौलट-एक्ट कानून' की दमनपूर्ण नीति के द्वारा बड़ा कठोर आघात

किया। एक ओर सुधार का ढोंग था तो दूसरी ओर घोर दमन की अत्याचार-पूर्ण नीति, जिसका भारत को सभी जातियों ने घोर विरोध किया। सन् १९२० में तिलक के देहावसान से कांग्रेस का नेतृत्व पूर्ण रूप से गांधीजी के हाथ में आ गया। राजनीतिक चेतना के इस तृतीय उत्थानकाल को हम ग्राम-उद्धार एवं मध्य-वर्ग की चेतना के विकास में देख सकते हैं। गांधीजी ने अहिंसात्मक उपायों से स्वतन्त्रता प्राप्ति को लक्ष्य बनाया और इसका मुख्य आधार था असहयोग एवं ग्राम-उद्धार। इस प्रकार गांधीजी अपनी सारी शक्ति रचनात्मक कार्य में लगा रहे थे। इस काल में युग की चेतना का यही कारण था। साथ ही अन्य राजनीतिक विद्वान अपने विचारों से बुद्धिजीवी-वर्ग में देशभक्ति का संचार कर रहे थे। धीरे-धीरे कांग्रेस पार्टी ने भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य की जगह पूर्ण स्वराज्य की माँग की। इस प्रकार कांग्रेस पार्टी के राजनीतिक कार्यों से जनता में राष्ट्रियता की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती गई। असहयोग के दो रूप थे, एक तो विदेशी शासकों के साथ असहयोग और दूसरी विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार। इसमें मुख्यतया विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार हुआ और खादी राष्ट्रीय भावना की प्रतीक बनी। गांधीजी ने स्वतन्त्रता-संग्राम में मानवतावाद को प्रमुख स्थान दिया। गांधीजी को इस मानवतावादी भावना के कई रूप मिलते हैं, जैसे अहिंसा, सत्याग्रह, राजनीतिक समानता, अछूतोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम एकता, धार्मिक समन्वय, ग्रामोद्धार, जमींदारी का विरोध इत्यादि। निस्सन्देह उपरोक्त विभिन्न कार्यों में गांधीजी के रचनात्मक आन्दोलन का बड़ा सुष्ठु स्वरूप दिखाई पड़ता है। इनमें से हरिजन आन्दोलन, जमींदारी प्रथा का विरोध एवं अत्याचारों के विरुद्ध सत्याग्रह इत्यादि राष्ट्रीय एकता एवं देश-व्यापी राजनीतिक चेतना में विशेष सहायक सिद्ध हुए। इसी युग में बङ्गाल के ठाकुर रवीन्द्रनाथ ने भी मानवतावाद का प्रचार अपने साहित्य द्वारा किया। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्व संस्कृति, आध्यात्मिकता इत्यादि का प्रचार किया। इस प्रकार राजनीतिक चेतना के तृतीय उत्थान में गांधी और रवीन्द्र दो महान व्यक्ति थे जिन्होंने युग की विचारधारा को बड़े व्यापक रूप से प्रभावित किया।

राजनीतिक चेतना का चौथा युग द्वितीय महायुद्ध से प्रारम्भ होता है।

इस युग में स्वतन्त्रता संग्राम बड़े उत्साह से चल रहा था और भारतीयों का पक्ष विश्व के अन्य राष्ट्र भी लेने लगे थे। इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद धीरे-धीरे पूर्ण स्वतन्त्रता मिलने की आशा हो रही थी। परन्तु इसके साथ ही साथ पूँजीवाद बढ़ रहा था और इससे जनता में बड़ा असन्तोष छाया हुआ था। इस युग में स्वतन्त्रता आन्दोलन का स्वरूप प्रथम युद्ध के समय से बहुत बदल गया था। साथ ही राजनीतिक परिस्थितियों में भी बहुत परिवर्तन हो चुका था। अब स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए हिन्दू और मुसलमानों को आपस में समझौता करना था। इसी समय (सन् १९४५) ब्रिटेन में उदारदल की सरकार बनी जिसको भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ पूर्ण सहानुभूति थी। धीरे-धीरे भौतिकता के विकास के साथ ही देश के जीवन में बड़ी शुष्कता आ गई थी। इस युग की राजनीतिक चेतना की एक बहुत महत्वपूर्ण बात समाजवादी विचारधारा का विकास है। पूँजीवाद के बढ़ने से वर्ग संघर्ष बढ़ रहा था। भारतवर्ष में आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न वर्ग-संघर्ष में मार्क्सवादी विचारधारा को विशेष बढ़ावा मिला। इसका मुख्य कारण स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए और विशेषकर राजनीतिक अन्यायों का विरोध करने के लिए अपनाये गए सत्याग्रह और हड़तालों द्वारा जाग्रत मजदूरों एवं कृषक वर्ग का चैतन्य था। इन सब बातों का उस युग की विचारधारा पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। धीरे-धीरे वह दिन भी आ गया जब भारत स्वतन्त्र हुआ, गणतन्त्र का आविर्भाव हुआ।

गणतन्त्र के आविर्भाव के साथ ही हमारे देश में राजनीतिक चेतना का पाँचवाँ युग आरम्भ होता है, इसे हम वर्तमानकाल कह सकते हैं। अब राजनीतिक चेतना का स्वरूप किसी विदेशी सरकार के प्रति विद्रोह नहीं रह गया, वरन् राष्ट्रीय एकता और उसका अन्तर्राष्ट्रीयता में विकास हो गया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही हमारे देशवासियों का दृष्टिकोण व्यापक हुआ और उन्होंने विश्व के अन्य दासता में जकड़े हुए लोगों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। साथ ही आन्तरिक संघर्ष से अवकाश पाकर भारतीय राजनीतिज्ञों ने विश्व के अन्य राष्ट्रों से सम्पर्क बढ़ाया तथा सहअस्तित्व के सिद्धान्त को विश्व के सामने रखा। इसलिए आज भारत का स्थान विश्व के अन्य राष्ट्रों में बहुत

ऊँचा है और अपनी विश्वशान्ति की पंचशील नीति के लिए वह प्रशंसा का पात्र है। इस प्रकार हमने हिन्दी साहित्य के आधुनिककाल की राजनीतिक चेतना के विकास का संक्षेप में विवेचन किया।

सामाजिक अवस्था—भारत में अँग्रेजी शासन एक महत्वपूर्ण घटना है। भारत के सामाजिक जीवन में आधुनिक काल में जो चेतना आई उसका कारण अँग्ल-भारतीय सम्पर्क है। सामाजिक क्षेत्र की परम्पराओं एवं रूढ़ियों पर अँग्ल सम्पर्क ने आघात किया और भारतीय दृष्टिकोण व्यापक हुआ। अँग्रेजी शिक्षा का प्रभाव भारतीय दृष्टिकोण में परिवर्तन करने में सहायक हुआ। मध्यकालीन हिन्दू धर्म का कट्टरपन अब धीरे-धीरे दूर होने लगा। वैसे भी मुगलों के पतन के साथ ही हिन्दू धर्म की स्थिति दृढ़ एवं सुरक्षित हो गई थी। ऐसे ही समय में आर्यसमाज की स्थापना करने वाले स्वामी दयानन्द का आविर्भाव हुआ और उन्होंने हिन्दू धर्म की अनुदारता एवं कट्टरपन को दूर करने के लिये एक बड़ी क्रांति उपस्थित की। आर्यसमाज के आन्दोलन ने हिन्दू समाज को जाग्रत किया। सचमुच यदि आर्यसमाज के द्वारा क्रांति उपस्थित न की गई होती तो हिन्दू समाज बहुत पिछड़ जाता और निश्चय ही दुर्बल हो जाता। कारण स्पष्ट ही पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण, विदेशी सरकार की कृपा प्राप्त करने के लिए ईसाई धर्म अपनाना था। इस प्रकार आर्यसमाज ईसाई-धर्म आन्दोलन के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आया। पश्चिमी-संस्कृति का प्रभाव बंगाल से होता हुआ सारे देश के सामाजिक जीवन पर छा रहा था। अँग्रेजी शिक्षा इस प्रभाव के विकास में विशेष सहयोगी थी। इस प्रकार प्राचीन वैदिक प्रेरणा को लेकर स्वामी दयानन्द ने सामाजिक क्षेत्र में क्रांति उपस्थित की। सामाजिक रूढ़ियों का तिरस्कार होने से जीवन के मूल्य बदले। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के प्रथम उत्थान (भारतेन्दु-युग) में सामाजिक द्वन्द का स्वरूप व्यक्त हुआ। एक ओर विधवा-विवाह के पक्षपाती थे तो दूसरी ओर इसे 'अनहोनी' कहने वाले भी मौजूद थे। इसी प्रकार एक ओर जाति-पांति के विरोधी थे दूसरी ओर इसे 'जगत विदित फूलवारी' को निर्मूल करना मानने वाले पक्षपाती। इन दोनों धाराओं के बीच एक धारा उन विचारकों की थी जो प्रत्येक कल्याण

कारी सामाजिक आन्दोलन की दाद देने को तत्पर रहते थे। तत्कालीन सामाजिक दोषों, जैसे धार्मिक विवाद, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, जाति भेद, अंध विश्वास, समुद्रयात्रा-निषेध, स्त्री-शिक्षा निषेध, जाति-बहिष्कार इत्यादि के प्रति इनकी आँखें खुली रहती थीं और वे इन समस्याओं को सुलभाने के लिए पुष्ट सुभाव प्रस्तुत करते रहते थे। आर्य-समाज के पक्षपाती विचारकों ने कुछ अति भी की और सभी प्राचीन परम्पराओं एवं रूढ़ियों को 'पोप-लीला' के अन्तर्गत मानकर बड़ी कटु आलोचना भी की जिसके शब्दाडम्बर में उनकी सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप बड़ा धूमिल हो गया। किन्तु जब ये विचारक निष्फल वाद-विवाद को छोड़कर समाज-सुधार और देशोद्धार की सक्रिय योजना प्रस्तुत करते हैं तब इनके सद्गुणों की प्रशंसा ही करनी पड़ती है। इस प्रकार भारतेन्दु युग में सामाजिक क्षेत्र में बड़ा परिवर्तन उपस्थित हुआ जिससे सामाजिक परिस्थिति में बड़ी अशान्ति छा गई।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के द्वितीय उत्थान में (सन् १८०३ से सन् १८१६) सामाजिक क्षेत्र की अशान्ति दूर हो गई और नवीन व्यापक दृष्टिकोण जीवन के नवीन-मूल्य के रूप में स्थापित हो गया। यही कारण है कि इस युग में पूर्वयुग के वाद-विवाद, आलोचना-प्रत्यालोचना का प्रायः अभाव है। इस युग के विचारकों ने समाज-सुधार की आवश्यकता को बहुत महत्व दिया और बड़े शांत चित्त से सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के सुभाव प्रस्तुत किये। स्त्री-शिक्षा कोई आश्चर्यजनक वस्तु नहीं रह गई थी, और बाल-विधवाओं के प्रति व्यापक सहानुभूति दिखलाई पड़ती है। बालविधवाओं के 'श्राप' में सामाजिक अधःपतन का कारण ढूँढ़ना इस सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण का परिचायक है। इसी प्रकार अछूतों के प्रति सद्व्यवहार, हृदय की विशालता, दहेज की कुप्रथा को दूर करने का प्रयत्न इस युग के समाज-सुधारकों में विशेष रूप से दिखलाई पड़ता है। किन्तु पश्चिमी सभ्यता के अन्धानुकरण का विरोध इस युग में भी स्पष्ट पलित होता है। इसके साथ ही इस युग में नवीन प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। यह प्रवृत्ति मानवतावाद की है। पूँजीवाद की बढ़ती से उत्पन्न वर्ग-संघर्ष, जमींदारी प्रथा के अभिशाप तथा स्त्रियों की दुर्दशा से उत्पन्न क्षोभ तीनों ही परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया

स्वरूप लोगों को जनवादी विचारों का महत्व ज्ञात हुआ। वस्तुतः सामन्तशाही के नाश और देशी राजाओं के पतन के कारण सामाजिक व्यवस्था बदल रही थी। दूसरे राजनैतिक क्षेत्र में भी मध्यवर्ग का सहयोग बढ़ा महत्वपूर्ण प्रतीत हो रहा था। इस कारण इस युग के विचारकों में मानवता के प्रति विस्तृत दृष्टिकोण का प्रादुर्भाव हुआ। देश के महान् विचारकों ने निर्धन और शोषित समाज के प्रति समवेदना और नारी की स्थिति के प्रति करुणा व्यक्त की, उसकी 'आँचल में दूध और आँखों में पानी' वाली स्थिति का चित्रण करके गम्भीर सहानुभूति एवं उच्च भावना अभिव्यक्त की।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के तृतीय उत्थान (सन् १९१६ से सन् १९३६) में सामाजिक क्षेत्र में और अधिक विकास हुआ और मानवतावादी दृष्टिकोण का महत्त्व बढ़ा। वस्तुतः राजनीति में मानवतावाद को आधार बनाया इसलिए इसकी मान्यता अधिक बढ़ गई। अब जो राजनैतिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन था वह सामान्य जन-समुदाय को लेकर चला। इस समय तक अंगरेजी शिक्षा बहुत फैल चुकी थी, इसलिए बड़े-बड़े विचारक व्यापक दृष्टिकोण को लेकर सामाजिक अवस्था पर मनन करने लगे। गाँधीजी की सारी क्रियात्मक योजनाएँ सामाजिक उत्थान के लिए बड़ी शक्तिशाली सिद्ध हुईं। गाँधीजी की इस मानवतावादी भावना ने निम्नस्तर के लोगों की सामाजिक दशा में बड़ा परिवर्तन किया। उनकी मानवतावादी भावना के कई रूप मिलते हैं जैसे अहिंसा, सत्याग्रह, राजनीतिक समानता, अछूतोद्धार, हिंदू-मुस्लिम एकता, धार्मिक समन्वय, ग्रामोद्धार, जमींदारी का विरोध। धीरे-धीरे पश्चिमी संस्कृति के विरोध में और भारतीय संस्कृति के प्रतीक स्वरूप खादी भी उच्च सामाजिक भावनाओं की प्रतीक बनी। साथ ही आर्य समाज के आधार वैदिक युग का पुनरुत्थान भी इस युग में दिखलाई पड़ा। इस वैदिक-उत्थान-काल में इसी कारण आध्यात्मिक भावना का भी विकास हुआ और मानवता की सेवा और उसके द्वारा ईश्वर प्राप्ति की भावना पर जोर दिया गया। यही अरविन्द, रवीन्द्र और गाँधी का युग है। गाँधी ने ग्रामोद्धार को महत्व दिया और इसीलिए औद्योगिकता का विरोध किया। यन्त्र में वे मानव-शोषण की भूलक पाते हैं, किसानों की दीनता का उनके जीवन पर बड़ा व्यापक

प्रभाव था और इस महान् अभिशाप के कारणों को दूर करने के लिए वे कृषक-वर्ग की जाग्रति के महान् समर्थक थे। इसी प्रकार जाति भेद और अछूतों के प्रति अत्याचार से जनका हृदय विदीर्ण हो रहा था और इस सब में अछूतों को भगवान के मन्दिरों से दूर करने की प्रवृत्ति उन्हें घोर नास्तिकता एवं मृदता की प्रतीत होती थी। इसीलिए उन्होंने आध्यात्मिकता के महत्व का भी प्रतिपादन किया।

इस युग के दूसरे महान् विचारक, समाज सुधारक एवं मानवतावाद के समर्थक विश्वकवि रवीन्द्र हुए। इनकी कविता में मानवतावाद बड़े व्यापक रूप में अभिव्यक्त हुआ और इसीलिए वे विश्वकवि हुए। उनकी मानवतावादी भावना के प्रमुख रूप विश्व-संस्कृति, आध्यात्मिकता, अन्तर्राष्ट्रीयता, मानव-दुख-निवारण और जाति भेद को मिटाने में तत्परता इत्यादि हैं। ब्रह्म-समाज को स्थिरता प्रदान करने में उन्होंने बड़ा सहयोग दिया। निश्चय ही उन पर पश्चिम के मानवतावाद के आदर्श का व्यापक प्रभाव था और उन्होंने मानव को समग्र मानव-समाज के रूप में देखा। ब्रह्म-समाज के द्वारा उन्होंने बंगाल के रूढ़िग्रस्त सामाजिक संगठन में स्वच्छता का संचार किया और सामाजिक व्यवस्था को नवयुग की चेतना से उचित रूप से आत्मसात करने के योग्य बनाया। रवीन्द्र पर विवेकानन्द का गहरा प्रभाव था। उनकी मानवता की उपासना में विवेकानन्द के दर्शन का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। उन्होंने दुःख को मानवता की एकसूत्रता के मूलमंत्र के रूप में स्वीकार करके उसे साधनात्मक रूप दिया। उनके हृदय की करुण भावनाएँ सामाजिक जाग्रति को लक्ष्य में रखकर अभिव्यक्त हुई हैं। इन सबका लक्ष्य है मानवता का विकास और आधार विश्वशान्ति, जिसे अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकसित होने पर ही प्राप्त कर सकते हैं।

इस युग की सामाजिक विचारधारा को प्रभावित करने वाला तीसरा महान् व्यक्तित्व योगिराज अरविन्द का है। श्री अरविन्द मानव जाति के विकास के लिए ही योग-साधना या विचार-साधना कर रहे थे। उनका जीवन मानव की सेवा में रत था, उनके मानवतावाद में अध्यात्मवाद की उच्च अनु-

भूति का समिश्रण था और उनका साधनात्मक जीवन और इच्छाशक्ति की दृढ़ता मानव को पूर्ण मानव बनाने में संलग्न थी।

सारांश यह कि इस युग में सामाजिक व्यवस्था में बड़े ठोस परिवर्तन हो रहे थे और उनका प्रभाव समाज के साथ साहित्य पर भी पड़ रहा था। उपरोक्त सामाजिक अवस्था में और भारतेन्दु-युग या द्विवेदी-युग की सामाजिक अवस्था में अन्तर भी स्पष्ट ही है। भारतेन्दु-युग में नवयुग की चेतना का विकास हुआ और सामाजिक अवस्था में परिवर्तन की पुकार से बड़ी अशान्ति फैल गई, द्विवेदी युग में यह अशान्ति शान्त हो गई और समाज-सुधारक सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों का खंडन करने के साथ ही सामाजिक समस्याओं को मुलभाने के लिए ठोस विचार और सुझाव प्रस्तुत करने लगे। धीरे-धीरे मानवतावादी भावनाओं का भी विकास हो रहा था, परन्तु हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के तृतीय उत्थान में सामाजिक अवस्था का मुख्य रूप मानवतावादी भावनाओं में केन्द्रित हो गया और सामाजिक कुरीतियों के निवारण के कुछ ठोस रूप दिखाई पड़े, जैसे सन् १९२६ में शारदा एक्ट द्वारा बाल-विवाह का निषेध हुआ, सन् १९३५ के 'गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट' द्वारा अछूतों को मताधिकार प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त विधवा विवाह इत्यादि के संबंध में भी कानून बने। नर-नारी की समानता, एक विवाह, विधवा विवाह इत्यादि की भावना का विकास पश्चिमी विचारधारा का प्रभाव है।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के चतुर्थ उत्थान (सन् १९३६ से सन् १९४४) में सामाजिक क्षेत्र में आर्थिक परिस्थिति का प्रभाव अधिक मुखरित हुआ। वर्ग-संघर्ष की भावना बढ़ रही थी इसलिए मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभुत्व बढ़ने लगा। देश के आर्थिक शोषण से अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं। बेकारी की समस्या दिन-प्रतिदिन गहन होती गई। आन्तरिक परिस्थितियों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक ही था। द्वितीय महायुद्ध की भयंकरता ने जीवन को बहुत कटु बना दिया। एक गहरी निराशा की भावना ने जन-जीवन को आच्छादित कर लिया। इस प्रकार यह काल भयानक हलचल का समय था।

इसके बाद वर्तमान काल (सन् १९४४ से आज तक) आता है । इस काल की सामाजिक अवस्था का विवेचन इस प्रकार हो सकता है—(i) जाति-गत भेद की भावना का कानून के द्वारा निवारण । (ii) स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार और उनका भारतीय शासन में स्थान । (iii) कृषक वर्ग की जमींदारी प्रथा के उन्मूलन द्वारा शोषण से मुक्ति । (iv) श्रमिक वर्ग की अवस्था में सुधार तथा उनके जीवन की सुरक्षा को महत्व प्रदान करना । (v) अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को प्रश्रय तथा विश्वबंधुत्व की स्थापना (vi) नागरिक अधिकारों की पुकार । (vii) समाजवादी शासन की स्थापना का प्रयत्न । (viii) पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा देश का निर्माण ।

आर्थिक स्थिति—अब तक हमने आधुनिक काल की सामाजिक अवस्था का वर्णन किया । राजनीतिक चेतना और सामाजिक अवस्था के मूल में देश की जनता की आर्थिक स्थिति रहती है, अतः यहाँ संक्षेप में उसका विवेचन करना भी आवश्यक हो जाता है । यहाँ भी हम १८५७ से ही प्रारम्भ करते हैं । १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता युद्ध के पश्चात् सत्ता का हस्तांतरण हुआ और यह आशा बंधी कि देश की आर्थिक व्यवस्था में सुधार होगा, क्योंकि एक व्यापारी कम्पनी से तो इस प्रकार की आशा करना समीचीन नहीं था । प्रारंभ में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय औद्योगिक विकास में रुचि प्रकट नहीं की । इस प्रकार भारत का धन विदेश की ओर प्रवाहित होने लगा । प्रथम उत्थान के विचारकों के लिए यह चिन्ता का विषय था । ब्रिटिश माल की खपत के लिए ब्रिटिश सरकार ने कुछ कर भी लगाए, जैसे भारतीय कपड़े पर, और इस प्रकार अपने हित को बढ़ाया । इस प्रकार विदेशी वस्तुओं का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ता गया और भारतीय उद्योग धन्धों की दशा बिगड़ती गई । राष्ट्रीय विचारों से सम्पन्न महान् विचारक विदेशी वस्तुओं को ही अपनी आर्थिक स्थिति की गिरावट का कारण समझ कर उसका विरोध करने लगे । इस प्रकार महँगी, अकाल, टैक्स और दरिद्रता प्रथम युग की मुख्य आर्थिक समस्याएँ थीं । राजनीतिक चेतना को जन्म देने वाली इण्डियन नेशनल काँग्रेस ने भी अपने आदर्शों में आर्थिक स्वतन्त्रता की माँग रखी थी । द्वितीय उत्थान में आकर तो आर्थिक स्वतन्त्रता एवं आर्थिक राष्ट्रीयता का आदर्श राजनीति

में एक महत्वपूर्ण आधार बनकर स्थापित हुआ। आर्थिक भावना ने काँग्रेस के आन्दोलन को अधिकाधिक प्रेरणा दी। किसानों की दुरवस्था और जमींदारों के अत्याचारों ने आन्दोलन के आर्थिक पक्ष को और भी दृढ़ कर दिया। भारतवर्ष मुख्यतया कृषि प्रधान देश रहा है और अब भी है। इसलिए कृषक वर्ग पर मालगुजारी का बोझ लादकर और जमींदारों के अत्याचारों को प्रश्रय देकर अंग्रेज सरकार ने उनको अत्यधिक दरिद्र बना दिया। उसके ऊपर से उनके गृह उद्योग-धन्धों का नाश हुआ। प्रथम महायुद्ध तक भारतीयों को यह विश्वास था कि अंग्रेज भारत का औद्योगिक विकास नहीं करना चाहते। इसलिए काँग्रेस के उग्रपंथियों ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का अस्त्र अपनाया जिसकी भारत के पूँजीपतियों ने भी सहायता की। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हम अंग्रेजों की आर्थिक नीति में परिवर्तन पाते हैं। इसका कारण था कि अंग्रेजों को यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो गया कि भारत के प्राकृतिक साधनों का विकास करने में उनके साम्राज्यवादी हितों को बढ़ावा मिलता है। युद्धकाल में उन्हें इसकी अनुभूति हुई। इसलिए युद्धकाल और उसके पश्चात् भी भारत की औद्योगिक उन्नति की गई और साथ ही शोषण भी बढ़ा। साथ ही एक बात और ध्यान देने की है, अंग्रेजों ने केवल उन्हीं उद्योग-धन्धों को बढ़ावा दिया जिसमें उनके देश की पूँजी लगी थी। इस प्रकार धीरे-धीरे भारत का औद्योगिक-विकास हुआ और भारतीय पूँजीवाद के पैर जमे। तृतीय उत्थान में हम देखते हैं कि अंग्रेजों की व्यापारी नीति से भारतीय पूँजीवाद ने भी स्वतन्त्रता आन्दोलन में सहयोग देना प्रारंभ किया। इसी युग में यन्त्रों के विकास से उत्पन्न बेकारी की समस्या भी सामने आयी। धीरे-धीरे वर्ग संघर्ष बढ़ने लगा, क्योंकि मध्यवर्ग और मजदूर-वर्ग में राजनीतिक चेतना आ गयी थी। चतुर्थ उत्थान में वर्ग-संघर्ष ने और जोर पकड़ा। बेरोजगारी, मँहगाई, पूँजी का कुछ लोगों के पास जमा होना और देशव्यापी दरिद्रता से भारतीय आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ी। पूँजीवाद ने मानव समाज में शुद्ध आर्थिक संबंध स्थापित कर दिये थे। इसलिए श्रमिक-वर्ग की चेतना का आधार भी शुद्ध आर्थिक स्वार्थ थे। वे अपना संघटन दृढ़ कर रहे थे। धीरे-धीरे इस युग के विचारकों का ध्यान यथार्थ की कठोर परिस्थितियों एवं निम्न वर्ग की कठिन

दशा ने पूर्ण रूप से अपनी ओर केन्द्रित कर लिया। वर्ग-संघर्ष से व्यापक जाग्रति हुई और दलित वर्ग विद्रोह करने के लिए तत्पर हुए। आर्थिक संबंधों में कल्पना और भावुकता न्यून ने न्यूनतम होती गई और यथार्थवाद को महत्व मिला।

गणतन्त्र के आविर्भाव के साथ ही देश की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हुए हैं। बड़ी-बड़ी पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के स्तुत्य प्रयत्न किये गए हैं और भविष्य में भी चलते रहेंगे। इस वर्तमान युग की आर्थिक स्थिति के अध्ययन में तीन महत्वपूर्ण बातें हैं—

(i) कानून द्वारा दलित और शोषितवर्ग (कृषक, श्रमिक) की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन।

(ii) समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न और पूँजीवाद की शक्ति का घटना।

(iii) पंचवर्षीय आयोजनों द्वारा देश के प्राकृतिक साधनों का अधिक से अधिक उपयोग और देश की आर्थिक स्थिति बदलने का महत् प्रयत्न।

धार्मिक स्थिति—मुगलों का पराभव होने के साथ ही हिंदू जाति की कट्टरपन्थी शाखा का हास होने लगा। नवयुग की चेतना की सबसे महत्वपूर्ण बात धार्मिक दृष्टिकोण में परिवर्तन है। इस युग में मध्यकालीन धार्मिक भावना का बड़ा परिमार्जित रूप मिलता है। अन्य धर्मों की सहिष्णुता इस युग की धार्मिक परिस्थितियों की विशेषता है। उपासना की पद्धति में भी परिवर्तन हुआ। द्वितीय उत्थानकाल में धार्मिक भावना का प्रमुख आधार मानवतावादी विचारधारा बनी। धीरे-धीरे इस मानवतावादी विचारधारा का विकास हुआ और तृतीय उत्थान में गाँधी, रवीन्द्र और अरविन्द द्वारा मानवतावाद ही विश्वधर्म के रूप में स्थापित हुआ। यह मानवतावाद विश्व-मानवतावाद था। इसीलिए हम गाँधी जी में धार्मिक समन्वय का रूप पाते हैं। गाँधी जी ने वैष्णव जन की सबसे बड़ी विशेषता 'पराई, पीर जानना' बतलाया। उनके अनुसार वही वैष्णवजन है, भगवान का भक्त है जो पराई पीर जानता है। और भगवान के विभिन्न नाम विभिन्न धर्मों के आधार हैं। धीरे-धीरे

आर्थिक प्रगति और औद्योगिक विकास के कारण मानवतावादी विचारों में निम्न एवं शोषित वर्ग को महत्व दिया जाने लगा। गणतंत्र के आविर्भाव के साथ ही असाम्प्रदायिक जनवादी शासन की नींव पड़ी। यद्यपि इसके मूल में प्राचीन मानवतावाद की भावना ही है पर इस युग में जाति-पाँति के विरुद्ध जिहाद सा बोल दिया गया है। इस प्रकार राष्ट्रीय एकता की माँग का नया अध्याय खुला और आज धर्म का रूप प्राचीन काल से बहुत कुछ बदल गया है।

साहित्यिक पृष्ठभूमि—अब तक हमने हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की राजनीतिक चेतना, सामाजिक अवस्था एवं धार्मिक स्थिति का विवेचन किया। सच तो यह है कि साहित्य पर युग को बनाने वाली इन सभी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। उपरोक्त तीन प्रभावों के अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण प्रभाव साहित्यिक पृष्ठभूमि तथा अन्य साहित्यों का प्रभाव है। आधुनिक काल की पृष्ठभूमि में हिन्दी साहित्य का शृङ्गारकाल है। शृङ्गारकाल में साहित्य का विकास राजदरबारों में हुआ था। कलाकरों को अपने भरण-पोषण के लिए उच्चवर्ग के लोगों का आश्रय खोजना पड़ता था। इस प्रकार शृङ्गार काल का साहित्य मध्यकालीन दरबारी संस्कृति का प्रतीक है। राज्याश्रय में पली इस शृङ्गारी कविता में रीति और अलंकार का प्राधान्य हो गया था। जो कवि दरबारी संस्कृति से दूर रहे उनमें 'प्रेम की पुकार' का स्वरूप रीति से मुक्त है। लेकिन बहुमत आचार्यों का ही है जो रीति निरूपण को ही लक्ष्य बनाकर चला। संक्षेप में शृङ्गारकालीन साहित्य की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ थीं।

१—शृङ्गार रस का प्राधान्य।

२—अलंकार का प्राधान्य।

३—मुक्तक शैली का प्राधान्य।

४—ब्रजभाषा का प्राधान्य।

५—नारी के प्रेमिका स्वरूप का प्राधान्य।

६—लक्षण ग्रन्थों की प्रधानता।

७—प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण।

८—वीर रस की कविता ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शृंगारकाल की कविता पूर्णतया रूढ़िग्रस्त हो गई थी, इसलिए आधुनिक काल में इस परम्परा के विरुद्ध प्रतिवर्तन का आरम्भ हुआ । शृंगारकाल की कविता में शृंगार का बाहुल्य और जीवन के प्रति उदार दृष्टि का अभाव दो ऐसे कारण हैं जिन्होंने आधुनिक काल की नव-युग की चेतना को रोका । क्या भाषा, क्या भाव और क्या वृत्त सभी कुछ इतना रूढ़िग्रस्त हो गया कि शृंगारकालीन काव्य की परम्परा के प्रति एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई जिसमें आधुनिक नवयुगीनयुग चेतना को बनाने वाली विविध परिस्थितियों ने योग दिया । आधुनिक काल की नवयुगीन चेतना का आरम्भ सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम से ही होता है । इस महान् ऐतिहासिक घटना ने देश के जीवन पर बड़ा व्यापक प्रभाव डाला और जीवन के सभी क्षेत्रों की परिस्थितियाँ बदलीं । इन परिस्थितियों का हम ऊपर विचार कर चुके हैं ।

इस प्रकार शृंगारकाल की कविता का विषय और शैली दोनों ही नवयुग की चेतना के अवरोधक थे । यही कारण है कि आधुनिक काल में शृंगारकाल के विषयों और उनके प्रकाशन की शैली में क्रान्ति हो गई । साहित्य का प्रवाह रूढ़िबद्ध हो चुका था और आधुनिक युग की बदलती हुई परिस्थितियों में उससे सामंजस्य बैठाना कठिन हो गया था । इसलिए शृंगार काल के साहित्यिक मानदण्डों में परिवर्तन होना अनिवार्य था । आधुनिक युग का उदय और देशी राज्यों के प्रभुत्व का क्षीण होना और सामन्तकालीन सभ्यता का हास दोनों घटनाएँ एक दूसरे से इतनी घुली मिली हैं कि हम उनका स्वतन्त्र विचार नहीं कर सकते । इस प्रकार साहित्य पर भी नवयुग की चेतना का प्रभाव पड़ा और साहित्य का विषय सामन्ती संस्कृति से हटकर जन-वादी संस्कृति हो गया, इससे साहित्य का रूप ही बदल गया । यह तो विषय की बात रही । शृंगारकाल की शैली भी आधुनिक-काल की परिस्थितियों के उपयुक्त नहीं थी । साथ ही साहित्य क्षेत्र में भाषा का परिवर्तन भी दृष्टि-गोचर होता है । ऊपर हम आधुनिक-काल की नवयुगीन चेतना को जन्म देने वाली परिस्थितियों—राजनीतिक चेतना, सामाजिक अवस्था और धार्मिक

स्थिति का विवेचन कर चुके हैं। उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम नवयुगीन चेतना का स्वरूप भली भाँति समझ सकते हैं। ऐसी परिस्थितियों में साहित्य के स्वरूप में जो परिवर्तन हुआ वह क्रान्तिकारी परिवर्तन है। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में आधुनिक युग की प्रतिक्रिया का प्रभाव इस प्रकार है—“अंग्रेजी राज्य के आने से लोगों का ध्यान जीवन का कठोर वास्तविकताओं की ओर गया। जीवन संग्राम बढ़ा और साथ ही जातीय जीवन की भी जाग्रति हुई। ‘‘‘लोग अपनी सभ्यता को महत्व देने लगे।’’’ हिन्दू लोगों ने विदेशी धर्मों का मुकाबिला करने के लिए अपने धर्म के बुद्धिवाद के आलोक में परिष्कृत करना प्रारम्भ किया। ‘‘‘ऐसे बुद्धिवाद और प्रतिद्वन्द्विता के समय में जनता के भावों के प्रकाशन के लिए पद्य उपयुक्त माध्यम नहीं हो सकता था। अतः अंग्रेजी राज्य के साथ-साथ गद्य आया।’’’ पद्य में ब्रजभाषा का साम्राज्य था। किन्तु नवीन युग के आ जाने पर उनकी कोमलकान्त-पदावली जीवन की संघर्षमय कठोर भूमि के लिए उपयुक्त न ठहरी।’’

इस प्रकार बाबू गुलाबराय जी शब्दों में यथार्थ की प्रवृत्ति आधुनिक काल की सबसे बड़ी विशेषता है और इसके लिए खड़ीबोली उपयुक्त भाषा। सच तो यह है कि वैज्ञानिक आविष्कारों और सभ्यता के विकास के साथ ही समाज का ढाँचा ही बदल गया। संस्कृति का हास होता गया और साहित्य का केन्द्र जनवादी विचार धारा हुई। प्रेस के विकास के साथ ही गद्य का आविर्भाव और बहुमुखी विकास युग की परिस्थितियों एवं समस्याओं के अनुरूप था। यहाँ हम संक्षेप में आधुनिक काल के साहित्य की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे—

(१) पद्य के साथ ही गद्य का विकास हुआ। परन्तु गद्य के विकास से पद्य के विकास में कोई बाधा नहीं हुई। गद्य का आविर्भाव और बहुमुखी विकास इस युग की प्रमुख विशेषता है। मुद्रण के अभाव में साहित्य का केवल काव्यांग ही विकसित हुआ था और वस्तुतः आधुनिक काल से पूर्व साहित्य पद्य का पर्यायवाची भी था। आधुनिक काल की इसी विशेषता को लक्ष्य करके आलोचकों ने इसका नामकरण गद्यकाल किया है।

प्रेस के विकास से मुद्रण की सुविधा हुई और विचारों का प्रवाह पद्य की लय और गति के आश्रित न रहा। गद्य के माध्यम से मानव हृदय की भावनाओं का विविध रूपी विकास हुआ। आधुनिक काल में गद्य साहित्य के विविध रूप ये हैं—नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना, गद्य-काव्य, संस्मरणात्मक गद्य, जीवन चरित् या आत्मकथात्मक गद्य, इत्यादि।

(२) आधुनिक काल में दूसरा परिवर्तन भाषा का दृष्टिगोचर होता है। यथार्थ की प्रवृत्ति का प्रभाव पद्य क्षेत्र की भाषा-शैली के परिवर्तन में दृष्टिगत होता है। गद्य के लिए खड़ीबोली ही उपयुक्त भाषा थी। धीरे-धीरे नवयुग की चेतना की अभिव्यक्ति के लिए काव्य में भी इसका व्यवहार होने लगा। धीरे-धीरे वर्तमान युग में यह खड़ीबोली हिन्दी राष्ट्र-भाषा ही हो गई है और उसका वैज्ञानिक विकास हो रहा है। भाषा के सम्बन्ध में एक बात और स्मरण रखने योग्य है और वह अंग्रेजी भाषा का प्रभाव। खड़ीबोली का क्षेत्र व्यापक होने के साथ ही इसमें अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों का समावेश भी हुआ। वर्तमान युग में सरकार द्वारा इसे संस्कृत-सम्मत बनाने का प्रयत्न हो रहा है जिससे देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साथ इसका सामंजस्य स्थापित हो सके।

(३) आधुनिक काल की तीसरी प्रमुख विशेषता राष्ट्रीय भावना की है। राजनीतिक चेतना इस युग की प्रमुख भावना रही है। इस चेतना का रूप प्रत्येक उत्थान में बदलता रहा है। प्रथम उत्थान में राजनीतिक चेतना के फल-स्वरूप राजभक्ति, देश-भक्ति भारत के अतीत गौरव का गान और उसकी अर्वाचीन शोचनीय दशा पर विलाप, जाग्रति का संदेश और भारत के बचे गौरव की रक्षा करने का मन्त्र है। द्वितीय उत्थान में कांग्रेस की स्थापना तथा उसका अस्तित्व दृढ़ होने के साथ ही साहित्य में नवीन राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ। इस उत्थान की देशभक्ति की कविता में अतीत के गौरव के गान के साथ ही सामान्य जनता का महत्व बढ़ गया। कवियों ने गरीब किसान और मजदूरों की चर्चा की, विद्यार्थी-समाज के उत्थान का प्रयत्न किया और नव-युवकों में देशभक्ति का संचार किया। इसके साथ ही हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य भी राष्ट्रीय भावना का एक रूप बना। इस प्रकार द्विबेदी युग की देशभक्ति की

कविता में विविधता है। इसप्रकार प्रथम उत्थान देश की दुर्दशा का ज्ञान कराता है तो द्वितीय उत्थान में संघटन की सच्ची प्रेरणा है, तृतीय उत्थान में इस राष्ट्रीय भावना का और अधिक विकास हुआ। साहित्य में गांधी का अहिंसात्मक राष्ट्र प्रेम का सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ आत्म बलिदान का महत्व बढ़ा, सत्याग्रहियों की गौरव-गाथा का गान हुआ और साथ ही प्राचीन स्वतन्त्रता के पुजारियों का यश गान भी। मुख्य रूप से तृतीय उत्थान के राष्ट्रीय-प्रेम-भाव में वीर पूजा, स्वतन्त्रता प्रेम, मानवतावादी विचारधारा का पोषण मिलता है। कहीं-कहीं अंतर्राष्ट्रीयता और विश्व बन्धुत्व के स्वर भी मुखरित हैं। चौथे उत्थान में हमें राष्ट्रीय-भावना में कांग्रेस की प्रशंसा के साथ ही हरिजन, श्रमिक एवं कृषक वर्ग के महत्व का प्रतिपादन मिलता है और राष्ट्रीय-एकता के सूत्र मिलते हैं। वर्तमान काल में राष्ट्रीय प्रेम अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम से समन्वित होकर विश्वशांति का तथा सहअस्तित्व का प्रतीक बन गया है और पंचशील इसका आदर्श है। राष्ट्रीय-भावना का यह विकास पद्य, गद्य-(नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध) सभी क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होता है।

(४) आधुनिक काल की चौथी विशेषता साहित्य में नवयुग की चेतना के अन्य रूपों का जैसे—मानव का स्वरूप, सामाजिक अवस्था इत्यादि का विस्तृत विवेचन है। अब साहित्य का साध्य उच्चवर्ग नहीं रह गया है और साहित्य जनवादी विचारों से समन्वित होकर यथार्थ की भूमिका पर विकसित हो रहा है। वर्तमान युग में तो यथार्थ की यह अनुभूति और भी व्यापक हो गई और निम्नवर्ग तथा शोषितों की चेतना को व्यक्त करने में संलग्न हो गई। यहीं पर आकर मार्क्सवादी विचार-धारा का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है।

(५) आधुनिककाल की पाँचवीं विशेषता शैली के परिवर्तन की है। एक तो साहित्य में नई शैली का विकास हुआ जिसे हम गद्य के नाम से जानते हैं। दूसरे पद्य की शैली में भी विविध रूपी परिवर्तन हुआ। प्रथम उत्थान में हमें ग्राम साहित्य का स्वर कजरी, ठुमरी, लावनी इत्यादि में मिलता है। द्वितीय उत्थान में शैली में इतिवृत्तात्मकता का समावेश होता है और तृतीय उत्थान की शैली का रूप कायावादी और रहस्यवादी का मिश्रण कोमलकान्त पदावली

है। चतुर्थ उत्थान में एक बार कोमलकान्त और आलङ्कारिक शैली का फिर से विरोध हुआ और मार्क्सवाद से प्रभावित जनवादी विचारधारा को व्यक्त करने के लिए सरल और अलङ्कार रहित शैली का प्रयोग किया गया। वैसे छायावाद युग में ही मुक्त छन्द को महत्व प्रदान किया गया पर फिर भी छायावादी कवि संगीतमयता को नहीं छोड़ सके थे, चतुर्थ उत्थान में उन्होंने छन्द के विधि-विधान को तोड़ दिया और नवीन-नवीन छन्दों की उद्भावना की। कहने का तात्पर्य यह कि शैलीपन् या कलापन् गौण नहीं हुआ अपितु जनवादी विचारधारा को व्यक्त करने के लिए सरल रूप में गढ़ा गया। वर्तमान युग में शैलीपन् के अन्तर्गत नवीन-नवीन प्रयोग हो रहे हैं। इसमें शैली का यह प्रयोगपन् भावों को दबाने वाला है।

(६) आधुनिककाल की छठी विशेषता शृङ्गार की भावना के विकास की है। शृङ्गारकालीन शृङ्गार परम्परा का प्रथम उत्थान में विरोध हुआ, द्वितीय उत्थान में यह अश्लीलता के नाम से विख्यात हुई किन्तु तृतीय उत्थान में शृङ्गार की शृङ्गारकालीन परम्परा का सुष्ठु और स्वस्थ रूप विकसित हुआ। छायावाद युग का काव्य उच्चकोटि का प्रेमकाव्य है। इसमें शृङ्गारकाल का शृङ्गार निखरकर और शुद्ध होकर आया है और उसमें काव्य में शास्त्र-स्थिति-सम्पादन के स्थान पर गहरी सौन्दर्यानुभूति है। छायावाद युग में नारी वासना की मूर्ति नहीं है, वह सौन्दर्यशालिनी एवं शक्ति विधायिनी है। इसलिए इस उत्थान का साहित्य सौन्दर्यानुभूति का साहित्य है, शृङ्गार का नहीं। चतुर्थ उत्थान में पाप पुण्य की परिभाषा परिवर्तित हुई और यथार्थ की कटु कसौटी पर शृङ्गार की भावना कसी गई। कहने का तात्पर्य यह कि शृङ्गार की परम्परा शुष्क हो गई। साथ ही उसमें फ्रायड के मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों का प्राधान्य हो गया। मनोविज्ञान ने शृङ्गार की प्राचीन परम्परा का स्वरूप ही बदल दिया। इसी प्रकार आगे भी धीरे-धीरे शृङ्गार की परम्परा रस-विहीन होती गई।

(७) आधुनिककाल के साहित्य की सातवीं बड़ी विशेषता प्रकृति के मधुर चित्रण है। शृङ्गारयुग में प्रकृति उद्दीपन रूप में व्यवहृत थी। भारतेंदुयुग से ही प्रकृति स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में प्रतिष्ठित हुई। देश-प्रेम के वर्णन

में तो प्रकृति चित्रण मिलते ही हैं, साथ ही प्राकृतिक सौन्दर्य के स्वतन्त्र काव्य भी प्राप्त होते हैं, जिनमें रहस्यवादी पुट भी मिलता है। छायावाद काल में प्रकृति के उग्र और सौम्य दोनों प्रकार के चित्र मिलते हैं और यह रहस्यवादी भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम बनकर आती है। वर्तमान युग में प्रकृति के साधारण रूपों में सौन्दर्य दर्शन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

(८) आधुनिककाल की आठवीं महत्वपूर्ण विशेषता साहित्य में 'वादों' की प्रधानता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्य कालों की अपेक्षा इस युग में यह प्रवृत्ति बड़ी बलवती हो गई है। इन वादों से इस युग का साहित्य विशेष समृद्ध हुआ है। इन वादों में प्रमुख इस प्रकार हैं—छायावाद, रहस्यवाद, अभिव्यञ्जनावाद, स्वच्छन्दतावाद, पलायनवाद, हालावाद, प्रगतिवाद, प्रतीकवाद और प्रयोगशीलता को अभिव्यक्त करने वाला प्रयोगवाद। इन विचारधाराओं के संघर्ष से एक ओर तो बौद्धिक परिमार्जन हुआ तथा दूसरी ओर साहित्यिकों की संख्या बढ़ी। इस प्रकार इन वादों के कारण आधुनिककाल हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

(९) आधुनिककाल की नवीं महत्वपूर्ण विशेषता साहित्य पर अँग्ल प्रभाव है। यह प्रभाव बड़ा व्यापक और बहुमुखी है। अँग्रेजी शिक्षा के विकास के साथ हमारा पश्चात्य साहित्य से सम्पर्क बढ़ा। यह प्रभाव भावपद्ध और कलापद्ध दोनों पर ही पड़ा। भावपद्ध की दृष्टि से मुख्य प्रभाव गद्य क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। गद्य के विविध रूपों का जैसा विविध रूपी विकास पश्चात्य साहित्य में हुआ उसका अनुकरण हिन्दी साहित्य के गद्य में भी हुआ। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या कहानी, क्या निबन्ध, क्या संस्मरणात्मक गद्य—गद्य के सभी क्षेत्रों में पश्चात्य प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। काव्य के भावपद्ध पर भी पश्चात्य प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। मुख्य रूप से रहस्यवाद और छायावाद पर यह प्रभाव महत्वपूर्ण है। काव्य के रूप और शैली पर भी अँग्ल प्रभाव बड़ा व्यापक है। हिन्दी काव्य के रूप में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन अतुकान्त छन्द का है। अँग्रेजी 'सॉनेट' का रूप भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावाद युग में स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है। प्रगतिवाद युग और प्रयोगशील कविता में तो पश्चात्य काव्य शैलियों

को लक्ष्य करके नवीन-नवीन प्रयोग हो रहे हैं। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में जो विविध वाद जैसे छायावाद, रहस्यवाद, अभिव्यञ्जनावाद, स्वच्छन्दतावाद, पलानवाद, प्रतीकवाद, प्रयोगवाद इत्यादि दिखलाई पड़ते हैं, इन पर आँगल प्रभाव स्पष्ट ही है।

(१०) आधुनिककाल के साहित्य की एक विशेषता साधारण विषयों पर रचना करने की है जैसे—विधवा विवाह, बुढ़ापा, विधि विडम्बना, जगत-सचाई-सार, गोरक्षा, माता का स्नेह, सपूत, कपूत, क्रोध, बात-चीत, करुणा, भिखारी, मिल का मौँपू, किसान का घर, गली, कूड़ा कर्कट, धोबियों का नाँच, कुकुरमुत्ता, कृषक, रेल का इंजिन इत्यादि इत्यादि। नवयुग की चेतना के साथ ही नवीन विषयों पर साहित्य रचना हुई।

सारांश यह कि आधुनिक काल को हम हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग कह सकते हैं। यह काल बहुत विस्तृत है और विविधमुखी विकास की व्यञ्जना करता है। इसकी प्रमुख प्रवृत्तियों का विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे। पद्य और गद्य दोनों प्रकार के साहित्य का एक साथ विवेचन करना समीचीन प्रतीत नहीं होता, इसलिए प्रथम हम आधुनिक काव्यधारा का और फिर गद्य के बहुमुखी विकास का पृथक-पृथक विवेचन करेंगे।

आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की मुख्य प्रवृत्तियों और युग को बनाने वाली परिस्थितियों का विस्तृत विवेचन करने के बाद अब हम आधुनिक हिन्दी काव्यधारा का अध्ययन करने जा रहे हैं। आधुनिक हिन्दी काव्यधारा का प्रादुर्भाव भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से ही होता है। हिन्दी काव्य धारा में नवयुग की चेतना का विकास और भारतेन्दुजी का रचनाकाल दोनों ही महान घटनाएँ एक दूसरे से इतनी घुली-मिली हैं कि हम उन्हें अलग नहीं कर सकते। सच तो यह है कि भारतेन्दुजी का हिन्दी साहित्य में रचना करना प्रारम्भ करना ही नवयुग की चेतना की सूचना देता है। भारतेन्दुजी के साथ ही हिन्दी कविता के विषयों और उनके प्रकाशन के दृष्टि में महान् क्रान्ति उपस्थित हुई। आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए हम उसके

इस आधुनिक काल को निम्नलिखित युगों में विभाजित कर सकते हैं—

१—भारतेन्दु युग (सन् १८६८ से सन् १९०३)—यह आधुनिककाल की हिन्दी कविता का प्रथम उत्थान है। इस काल का सम्पूर्ण काव्य अधिकांशतः भारतेन्दुजी या उनके मण्डल के सहयोगियों की रचना है। सम्पूर्ण भारतेन्दु युग पर भारतेन्दुजी के व्यक्तित्व का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। भारतेन्दुजी इस युग की काव्य प्रेरणा के केन्द्र थे और इसलिए इस युग का काव्य उनके चारों ओर रहने वाले सहयोगियों द्वारा ही निर्मित हुआ। भारतेन्दु-युगीन कविता में मुख्यतः राजभक्ति, देशप्रेम, सामाजिक दुरवस्था के प्रति दुःख प्रकाश, सामाजिक कुरीतियों का खण्डन, आर्थिक अवनति के प्रति क्षोभ, टैक्स की भयङ्करता, धन का विदेश की ओर प्रवाह, विधवा-अवनति, बाल-विवाह, धार्मिक रूढ़ियों का खण्डन, नए सामाजिक आन्दोलनों एवं स्त्री स्वतन्त्रता का पक्षपात इत्यादि विषयों पर कविताएँ हुई हैं। काव्य की भाषा प्रायः ब्रजभाषा ही रही, यों छुटपुट प्रयत्न खड़ीबोली में भी हुए, पर वे नगण्य हैं। भारतेन्दु युग की काव्यधारा में नवयुग की चेतना का सबसे प्रमुख रूप शृङ्गारकाल की सामन्ती संस्कृति का बहिष्कार करके जनवादी विचारधारा को अपनाना है। अब कविता राज्याश्रय से हटकर जनता के आश्रय में आ गई थी। इस प्रकार काव्य का आश्रय बदलने के साथ ही उसके विषयों में भी परिवर्तन हुआ। शृङ्गार की शृङ्गारकालीन परम्परा के प्रति एक प्रतिक्रिया हुई। कविता का लक्ष्य अब जन-मन के विचारों की अभिव्यक्ति हो गया और युग को बनाने वाली राजनीतिक चेतना, सामाजिक अवस्था, धार्मिक एवं आर्थिक शक्तियाँ काव्य की विषय-सामग्री पर अपना प्रभाव डालने लगीं। इस प्रकार काव्य में नए विषयों का प्रवेश एवं नवयुग की चेतना दिखलाई पड़ने लगी।

भारतेन्दु युग की काव्यधारा की दूसरी प्रमुख विशेषता काव्य शैली में परिवर्तन है। शृङ्गारकालीन कविता का क्षेत्र प्रमुखतया राजदरबार था जहाँ चामत्कारिक एवं आलङ्कारिक पदावली का विशेष महत्व था और कवियों को अपना आचार्यत्व दिखलाने की पूरी सुविधा और अवकाश था। आधुनिक-काल में ज्यों-ज्यों कविता ने जन-मन के विचारों की अभिव्यक्ति की त्यों-त्यों काव्य शैली में भी परिवर्तन हुआ। जन-जाग्रति के अग्रदूत भारतेन्दु ने काव्य-धारा

का प्रवाह ग्रामीणों में प्रवाहित करने के लिए ही कजरी, टुमरी, लावनी, खेमटा, कहरबा, अढ़ा, चैती, होली, साँझी, लबें, जाँते के गीत, बिरहा, चनैनी, गजल इत्यादि ग्रामीण छन्दों को काव्य में अपनाया। सच तो यह है कि जन-जागरण का उपाय ही जनता की बोली अपनाना था और उस युग में कवियों का मुख्य उद्देश्य किन्हीं सामन्तों को प्रसन्न करना न होकर जनता में जाग्रति फैलाना था।

२—द्विवेदी-युग (सन् १८०३ से सन् १८१६)—यह आधुनिक काल की हिन्दी कविता का द्वितीय उत्थान है। इस काल में जो रचना हुई वह एक बंधी प्रणाली की थी, जिसके प्रवर्तक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इन्होंने खड़ीबोली को काव्य-भाषा के रूप में स्थिर किया और भाषा की शुद्धता और सरलता का आग्रह किया। कविता के विषयों की दृष्टि से यह युग इतिवृत्तात्मक था तथा रीतिकाव्य के शृंगार रस की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रकट हुआ। शृंगार को एकदम अश्लील मानकर उसका बहिष्कार किया गया और सौन्दर्यवादी भावना का स्रोत सूखा पड़ा रहा। इस युग की कविता में राजनीतिक चेतना का गहरा प्रभाव है और कविता स्वतंत्रता आन्दोलन से पूर्णतया सम्बद्ध है। कांग्रेस के आदर्शों का पूर्ण पालन दृष्टिगोचर होता है, इसलिए काव्य विषयों में कांग्रेस की प्रशंसा ही नहीं है वरन् उसके सामाजिक आदर्श कृषक एवं दलित वर्ग की स्थिति को करण व्यंजना भी है। मातृभूमि प्रेम और स्वदेशी-गौरव तो इस युग की कविता का प्राण है। यथार्थ की अनुभूति की व्यापक व्यंजना इस युग की कविता की विशेषता है। इस युग में विचार स्वातन्त्र्य के दर्शन होते हैं। बुद्धिवाद के निरन्तर विकास से प्राचीन मूल्यों और मर्यादाओं में क्रांति उपस्थित हो गई और हमारे धर्म, दर्शन, समाज एवं कला की रूढ़ियाँ एवं परम्पराएँ बह गईं। इस युग में एक सन्देहात्मक मनोवृत्ति चल रही थी जिसका मूल राजनीतिक सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों में ढूँढ़ा जा सकता है। इस सन्देहात्मक प्रवृत्ति ने हमारी अब तक की समस्त मान्यताओं के सामने एक बड़ी समस्या खड़ी कर दी। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से पश्चिम के बुद्धिवाद की लहर हमारे जीवन में छा गई और उसका युग के साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि द्विवेदी युग के

काव्य में हम प्राचीन धार्मिक रूढ़ियों का खंडन एवं नवीन मानवीय मूल्यों की स्थापना पाते हैं। मानवतावादी विचार धारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव पड़ रहा था और दुष्चरित्रों में भी मानवीय गुणों का उद्घाटन एवं दलित और शोषित वर्ग के साथ सहानुभूति का प्रदर्शन हो रहा था। द्विवेदी युग की एक बहुत बड़ी विशेषता नारी उत्थान है। नारी अब उच्च-भावना की प्रतीक बनती जा रही थी। सच तो यह है पीड़ित और शोषितों के प्रति द्विवेदी युग की काव्य-धारा में व्यापक सहानुभूति के स्वर मिलते हैं। पुरुष और स्त्री के समानाधिकार की भावना का विकास राजनीतिक कारण से हुआ। स्त्रियों भी पुरुषों की भाँति स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेने लगीं इसलिए अब वह पुरुष की सहकर्मिणी बन गई और उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ। इसी कारण से काव्य में नारीत्व के प्रति उच्च भावना का विकास हो रहा था। मानवतावादी दृष्टिकोण की व्यापक सीमा में जन-सेवा का महत्व भी बढ़ रहा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी युग की काव्यधारा के विषयों के मूल में तीन मुख्य प्रवृत्तियाँ थीं—राष्ट्रीयतावाद, बुद्धिवाद और मानवतावाद।

यहाँ तक हमने संक्षेप में द्विवेदी युग की काव्यधारा की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया। काव्यरूप और शैली की दृष्टि से भी इस युग की काव्यधारा महत्वपूर्ण है। भाषा के क्षेत्र में तो खड़ीबोली स्थापित हो गई और उसका परिमार्जित तथा सरल स्वरूप ही प्रस्तुत करना कवियों ने समीचीन समझा। द्विवेदी जी के प्रभाव से कविता की इस भाषा में अलंकारों से बचने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। काव्य-रूपों के प्रकरण में अतुकान्त का प्रयोग आँग्ल प्रभाव से ही आया है। इसीप्रकार महाकाव्य का रूप भी पाश्चात्य परंपरा के निकट है। इस युग के उपदेश-काव्य एवं व्यंग्य-काव्य भी अंग्रेजी प्रभाव को अभिव्यक्त करते हैं।

(३) **छायावाद युग** (सन् १९१६ से सन् १९३६) यह हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की काव्यधारा का तृतीय उत्थान है। इस युग में कविता के विषयों का विस्तार हुआ, द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता के प्रति विद्रोह हुआ, सूक्ष्म सौन्दर्यवादी दृष्टि को प्रश्रय मिला। अभिव्यंजना के क्षेत्र में भाषा का

परिमार्जन, शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग, आलंकारिक शैली, प्रतीकात्मकता का प्राचुर्य, अन्योक्ति पद्धति का आश्रय, लाक्षणिकता का बाहुल्य वैचित्र्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति, शब्द-सौंदर्य पर भाव सौंदर्य से अधिक दृष्टि इत्यादि को प्रमुख स्थान मिला ।

छायावाद युग के कवियों ने द्विवेदी-युग की काव्यधारा के अभावों को दूर करने का प्रयत्न किया । द्विवेदी युग की कविता में मुख्यतः चार अभाव थे— एक तो उस समय तक कवियों का भावक्षेत्र परिमित था । कुछ गिने चुने विषय थे, जैसे देशप्रेम, राष्ट्रीयता की भावना, दुर्बल और शोषित के प्रति-सहानुभूति, नारी के प्रति उच्च भावना इत्यादि । छायावाद युग के कवियों ने इस सीमित भावक्षेत्र का विस्तार किया और उन्होंने नवीन विषयों पर कविता करके इनको विशेष समृद्ध किया । इन नवीन विषयों में उषा, प्रभात, इत्यादि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन से लेकर दार्शनिक चिंतन का गूढ़ भावक्षेत्र आ जाता है । इस प्रकार स्थूल भावनाओं के स्थान पर सूक्ष्म भावनाओं को महत्व प्रदान किया गया । द्विवेदी युगीन कविता का दूसरा अभाव उसका वस्तुगत था, (बाह्य आधारगत होना था) । छायावाद युग में हमें कविता की प्रवृत्ति आत्मगत या रागात्मक मिलती है । इसका कारण छायावाद में एक विशेष सौन्दर्यवादी दृष्टि का होना है । द्विवेदी युगीन कविता का तीसरा अभाव उसकी उपदेशात्मक प्रवृत्ति थी । वस्तुतः यह कविता अभिधा का आश्रय लेकर चली । छायावाद युग की कविता में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति का अभाव है । वहाँ तो कवि सौन्दर्य की दृष्टि लेकर चलता है और उसकी कविता का लक्ष्य अपने आत्मा के सौन्दर्य को काव्य में अवतरित करना है । इस युग की कविता में अभिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यंजना को महत्व दिया गया । द्विवेदी-युग की काव्यधारा का चौथा अभाव उसकी अभिधात्मक और इतिवृत्तात्मक शैली थी । छायावादी शैली में कल्पना प्रवणता और व्यंजना का प्राधान्य है । इसी-लिए छायावादी कवि प्रकृति के इतने सुन्दर और सजीव चित्र खींच सके । वस्तुतः छायावादी काव्य में प्रकृति सजीव हो उठी है । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि छायावाद जीवन के प्रति सौन्दर्यवादी दृष्टि है जिसमें स्थूल की

अपेक्षा सूक्ष्म भावनाओं को प्रधानता दी गई है।

छायावाद की एक बहुत बड़ी विशेषता रहस्य की प्रवृत्ति है। छायावादी कवियों में रहस्य की प्रवृत्ति का बड़े वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन हुआ है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में “अब तक की सारी कविता का मर्म प्रिय को भगवान और भगवान को प्रिय बनाना ही है। प्रथम मनोवृत्ति का पूर्ण विकास भक्तिकाल में हुआ, दूसरी मनोवृत्ति का आज के युग में हो रहा है।” छायावाद युग की दार्शनिक पृष्ठभूमि का विवेचन करते समय हम रहस्यवादी परम्परा के ऐतिहासिक स्वरूप का वर्णन करेंगे। यहाँ इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि छायावाद युग में धर्म का स्थान आध्यात्मिकता ने ले लिया। इस युग में जो आध्यात्मिकता की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है वह धर्म का अन्तस्थ रूप है। धर्म के बाह्य रूप और रूढ़ियों को छायावादी कवियों ने दूर किया और आध्यात्मिकता को विशेष महत्व दिया। छायावाद युग में धार्मिक और मत या संप्रदायों के बन्धन हट गए और इस प्रकार दर्शन और संस्कृति सभी क्षेत्रों में छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह स्वरूप प्रतिफलित हुआ।

छायावाद की एक और प्रवृत्ति युगानुरूप वेदना की है। इस युग के कवियों में वेदना-भाव का विकास सेवा के जीवन-दर्शन के रूप में हुआ है। महादेवी और प्रसाद में इस भाव का बड़ा सुन्दर रूप मिलता है। यह वेदना की विवृति महा-मानव के हृदय की भावना है, कवियों के आत्मा का सौन्दर्य है, कोई नखरा नहीं। महादेवी वर्मा के शब्दों में “व्यक्तिगत सुख विश्ववेदना में घुलकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है और व्यक्तिगत दुःख विश्व के सुख में घुलकर जीवन को अमरत्व ?”

(४) प्रगतिवाद युग (सन् १९३६ से सन् १९४३)—यह हिंदी साहित्य के आधुनिक काल की काव्यधारा का चतुर्थ उत्थान है। इस युग में कविता में मार्क्सवादी विचरधारा का प्रभाव बढ़ा, वर्ग संघर्ष उग्र रूप में प्रस्तुत हुआ और निम्नवर्ग के चित्रण को महत्व मिला। इस प्रकार इस युग में यथार्थ की अनुभूति अत्यन्त उज्ज्वल रूप में अभिव्यक्त हुई। डा० रॉगेय राघव के शब्दों में वास्तविक यथार्थवाद की परिभाषा इस प्रकार है—“जीवित रहने वाले व्यक्ति को चलते समाज के भीतर देखना और उस व्यक्ति के पूर्णत्व को प्रतिबिम्बित

करके लोक कल्याण की ओर ले जाने वाला वह वास्तविकता का चित्रण, जो उसे उदात्त बनाकर सत्य की ओर प्रेरित करता है, वही वास्तविक यथार्थवाद है।" ५ प्रगतिवाद में हमें वास्तविक यथार्थवाद की इस प्रवृत्ति के दर्शन मिलते हैं। वस्तुतः छायावाद के अन्तिम चरण से ही यथार्थ की अनुभूति का महत्व बढ़ता जाता है और छायावादी कवि भी इस ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं। मैक्सिम गोर्की का सिद्धान्त था कि उठते हुए व्यक्ति की सहायता करो। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित लेखक समाज के शोषित और पीड़ित वर्ग को कर्म का सन्देश सुनाकर उनमें उत्साह का संचार करता है। वे मनुष्य की अपरिमित शक्ति में विश्वास करते हैं। यह विश्वास यहाँ तक बढ़ जाता है कि ईश्वर का अस्तित्व भी संदेहात्मक हो जाता है। वे एक नवीन संस्कृति के निर्माण की कामना करते हैं जो पूँजीवादी संस्कृति के विरोध में और जनवादी भावनाओं से समन्वित हो। इसलिए वे श्रमजीवी-क्रांति की प्रेरणा देते हैं। यही समाजवादी एवं जनवादी विचारधारा प्रगतिवाद का प्राण है। इसी विचारधारा को पुष्ट करने के लिए उन्होंने अन्य बहुत से सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं—जैसे, अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना, सामयिक समस्याओं के प्रति सचेष्टता बौद्धिकता एवं व्यंग्य का प्रसार, जीवन के यथार्थ स्वरूप का कलात्मक उद्घाटन, नारी स्वतन्त्र्य की पुकार इत्यादि।

उपरोक्त सिद्धान्तों में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना से तात्पर्य विश्व के शोषित तथा पीड़ित वर्ग से सहानुभूति ही है। निम्नवर्ग या शोषित वर्ग के जीवन में जो हाहाकार है, व्यथा है वह सभी देशों में एक सी है। इतनी व्यापक पीड़ा का सृजन करने वाली व्यवस्था भी सभी स्थानों में प्रायः एक सी है। प्रगतिवादी विचारधारा के अनुसार सारे विश्व में पूँजीवादी अर्थ नीति से पीड़ित निम्नवर्ग का एक विशाल समुदाय निर्मित हो गया है। इन्हीं मजदूरों और दीन जनों की सार्वदेशिक प्रगति में योग देना प्रगतिवादी कवि का मुख्य लक्ष्य माना जाता है। रूस इस दिशा में पर्याप्त प्रगति कर चुका है अतएव अनेक प्रगतिशील लेखकों में हमें रूस के प्रति सद्भावना के विचार मिलते हैं। इसके

साथ ही इन कवियों ने फासिस्ट-विरोधी विचारों को भी महत्व दिया है। फासिस्ट राज्य में जनता का शासन न होकर कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों का शासन होता है और जनता की इच्छा को इन्हीं कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों की इच्छा का अनुगमन करना पड़ता है। इसीलिए प्रगतिशील लेखकों ने फासिस्ट विरोधी विचार प्रकट किए हैं। प्रगतिवाद की रचनाएँ जन-साधारण के उप-भोग की वस्तु हैं अतः वह अत्यन्त सरल हैं। उसमें छायावाद की दूरारूढ़ कल्पना और दुरूह कलात्मकता को छोड़कर कलाकार सरलता के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। प्रगतिशील लेखकों ने व्यंग्यात्मक शैली पर कविताओं की रचनाएँ कीं। मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण कवियों ने लोक गीतों के अनुसरण पर भी कविताएँ कीं। प्रगतिवादी कवि के रूपक और प्रतीक परवर्ती जीवन से लिये गए हैं, छायावादी कवियों की तरह प्रकृति के विविध उपकरण भावनाओं के प्रतीक स्वरूप व्यवहृत नहीं है। सारांश यह कि प्रगतिवादी कवि की भाषा, शैली उसकी उपमाएँ, रूपक और प्रतीक सुगम और सरल होते हैं। इस सम्बन्ध में वे उपयोगितावाद के समर्थक हैं।

प्रगतिवाद-युग में ही एक और विचार धारा प्रवाहित हुई है और वह है फ्रायड से प्रभावित मनोविश्लेषणवादी काव्य की। इस युग में मनोविज्ञान की उन्नति एक महत्वपूर्ण घटना है। इस मनोविश्लेषण के युग में प्राकृतवाद को अपने लिए उपयुक्त वानावरण मिला। मनोविश्लेषणवादी काव्यधारा के मूल में प्रवाहित होने वाली प्राकृतवादी विचारधारा को हम अज्ञेयजी के इन शब्दों में भली भाँति समझ सकते हैं—“पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध पति और पत्नी का नहीं चिरन्तन पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध—अनिवार्यतः एक गतिशील सम्बन्ध है। गति उसके किसी एक क्षण में हो या न हो, गतिशीलता—गति पा सकने की आन्तरिक सामर्थ्य उसके स्वभाव में निहित है। पुरुष और स्त्री की परस्पर अवस्थिति एक कर्षण की अवस्था है। वह शक्ति आकर्षण का रूप ले ले अथवा विकर्षण का, अथवा आकर्षण और विकर्षण की विभिन्न प्रवृत्तियों के सन्तुलन द्वारा एक ऐसी अवस्था प्राप्त कर ले, जिसमें बाह्य रूप से कोई गति-प्रेरणा नहीं है, किन्तु किसी-न-किसी प्रकार आन्तरिक खिंचाव बना रहना अनिवार्य है। नाटकीय भाषा में हम इसे पुरुष और स्त्री का चिरन्तन संघर्ष कह

सकते हैं।^१ वस्तुतः यही स्त्री पुरुष का द्वन्द्व मनोविश्लेषणादी कविता की मूल प्रवृत्ति है। इन कवियों ने सैक्स की समस्या को बहुत महत्व दिया है। पुरुष के हृदय में स्त्री विरोधी भावनाओं का पल्लवित होना इन कवियों ने बड़ा स्वाभाविक दिखलाया है। इसी कारण आज की सभ्यता में मनुष्य का सारा भावात्मक एवं सैक्स संबन्धी जीवन अत्यन्त शुष्क और क्षुद्र हो गया है। मनो-विश्लेषण की सहायता से मन के बहुत से राज खुल गये और मनुष्य को अपने अचेतन मन में दबी भावनाओं को जानने की शक्ति मिली। मनुष्य ने अपने दमित अहं का, अपनी वासना का स्वरूप देखा और इसीलिए प्राकृत-वादी कवियों ने 'सैक्स' को समस्त मानवीय प्रवृत्तियों का केन्द्र माना है।

इसके अतिरिक्त प्रगतिवाद युग में एक और विचारधारा प्रवाहित हो रही थी, यह है सांस्कृतिक समन्वय की धारा। कुछ प्रगतिशील लेखक एक नवीन विश्व संस्कृति की कल्पना करते हैं। मार्क्स ने जब यह कहा था कि आर्थिक व्यवस्था के आधार पर संस्कृति का निर्माण नहीं होता तो उसका मतलब यह था कि पुरानी संस्कृति के तत्व और रूपों को साहित्यकार अपने में समेट कर उन्हें अधिक पुष्ट और विकसित करें। इस प्रकार एक नवीन समन्वयात्मक सांस्कृतिक दृष्टि का जन्म हुआ। हिंदी के प्रमुख प्रगतिशील कवि पन्त की काव्य धारा के मूल में सांस्कृतिक समन्वय की यह विचारधारा प्रतिफलित हुई है जिसका मुख्य आधार अरविन्द का चेतनावाद और मार्क्सवाद है। इन दोनों के समन्वय से पन्त ने एक ऐसी विश्व संस्कृति की कल्पना की है जिसमें धर्म, जाति, वर्ण इत्यादि के सब भेद मिट जावेंगे। इस प्रकार पन्त के अनुसार मार्क्सवाद और भारतीय आध्यात्मवाद दोनों के समन्वय से ही विश्व कल्याण सम्भव है।

(५) प्रयोगवाद-युग (सन् १९४४ से आज तक) यह हिंदी साहित्य के आधुनिक काल की काव्यधारा का पंचम उत्थान है। प्रयोगवाद हिंदी काव्य की नवीनतम प्रवृत्ति है। प्रगतिवाद के अत्यन्त जनवादी दृष्टिकोण की प्रयोगवादी कवियों में प्रतिक्रिया मिलती है। धीरे-धीरे कुछ प्रगतिशील कवियों ने अनुभव

किया कि कला को केवल जीवन के लिए मानना उपयुक्त नहीं है, कला का स्वतन्त्र भी कुछ महत्व है और वे कला को कला के लिए मानकर चले। वैसे प्रयोगवाद के मूल में भी प्रगतिवाद के समान ही राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक असन्तोष रहा है। जहाँ तक विचार धारा का सम्बन्ध है वहाँ वे मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण विज्ञान से प्रभावित हैं। काव्य के कलापक्ष के सम्बन्ध में प्रयोगशील कवि नवीन प्रयोगों के पक्षपाती हैं और यहीं उनकी प्रयोगशीलता का रूप देखने को मिलता है।

वैसे तो हिंदी काव्यधारा के विकास में प्रारम्भ से ही प्रयोग होते रहे हैं और भक्तिकाल में तो उसकी सुष्ठु परम्परा भी दिखलाई पड़ती है। दूर कहों जाएँ, हिंदी काव्यधारा के आधुनिक काल में ही भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावाद युग और प्रगतिवाद युग में भी अनेक नवीन प्रयोग हुए हैं किंतु वाद के रूप में नवीनतम काव्य साहित्य को ही प्रयोगवाद की संज्ञा मिली। पंत जी तो प्रयोगवाद का जन्म छायावाद के प्रवर्तक प्रसाद से ही मानते हैं। उनके अनुसार 'प्रलय की छाया' और 'वरूणा की कछार' में प्रसाद जी ने वस्तु तथा छन्द के नवीन प्रयोग प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रकार निराला ने मुक्तछन्द को अनेक रूपों और शैलियों में प्रस्तुत किया। 'कुकुर-मुत्ता' और 'नये पत्ते' में छन्द के यह नवीन प्रयोग दर्शनीय हैं। प्रयोगवाद के कला पक्ष के विकास में ऑग्ल कवि टी० इस० इलियट का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

प्रयोगशील कविता की विषय-सामग्री सामयिक जीवन और समाज से गृहीत है। उसमें यौन कल्पनाओं से लेकर सामाजिक विषय भी अपनाए गए हैं। इन विषयों के अभिव्यंजन में प्रयोगशील कवियों ने बौद्धिकता को कहीं नहीं छोड़ा। अधिकोश प्रयोगवादी कवितायें थोर वैयक्तिकता, बुद्धिवादिता और शृंगारिकता से परिपूर्ण हैं। यहाँ तक कि प्रकृति चित्रण में भी शुष्कता और बुद्धिवाद की झलक मिलती है, उनमें मन के तारों को झकझोरने की शक्ति नहीं है। प्रयोगवादी कविता में मनुष्य की व्याकुल चेतना के दर्शन होते हैं जो नवीन प्रयोगों द्वारा अपनी जटिल भावनाओं की अभिव्यक्ति का प्रयत्न करती है। प्रयोगशील कवियों के अनुसार प्राचीन उपमान, रूपक एवं साहि-

त्यिक रूढ़ियों और परम्पराएँ वर्तमान जीवन की कुंठाओं और जटिलता को पूर्ण एवं सही रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं। श्री रामेश्वर वर्मा ने प्रयोगशील कवियों की इस कठिनाई को इन शब्दों में व्यक्त किया है—“जब लेखक अपने दैनिक जीवन की परिस्थित विशेष को, पारिवारिक व सामाजिक कठिनाइयों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है, काव्य का चोला पहनाना चाहता है तब यह कठिनाई मूर्तिमान होकर सम्मुख उपस्थित होती है, उस समय लेखक के मानस में एक प्रकार का संघर्ष उत्पन्न होता है। यह संघर्ष होता है शैली और वस्तु के बीच में।..... एक कारण और है जो उक्त भावनाओं की अभिव्यक्ति में बाधक रहता है—वह हैं मस्तिष्क के शैलीगत संस्कार।” आगे चलकर वे प्रयोगों की उद्भावना का मूल इन्हीं कठिनाइयों को बतलाते हुए कहते हैं “इन्हीं कारणों को लेकर प्रयोगवाद की नई कविता का जन्म हुआ जो सचेतन रूप से नवीन शिल्प का आग्रह करती है और जिसमें जीवन संघर्ष से उसे उद्भूत नूतनतम अनुभूति को उसी तीखेपन के साथ, जितना कि कलाकार ने अनुभव किया है, अभिव्यक्त करने का प्रयास भर रहता है। इस प्रयास के अन्तर्गत लेखक प्राचीन शैली का परित्याग कर एक ऐसी नई शैली के निर्माण में संलग्न होता है, जिसमें रूढ़ परम्परागत एवं बंधे हुए प्रतीक उपमान तथा वाक्य विन्यास न रहें—जो वास्तविकता से दूर केवल कल्पना की वस्तु रह गए हैं। लेखक अब भाषाभिव्यंन में सक्षम नवीन प्रतीक एवं उपमानों का सहारा लेता है।”

आधुनिक-काव्य-धारा का उपरोक्त पाँच उत्थानों में विभाजन काल विशेष की मुख्य प्रवृत्तियों को लक्ष्य कर ही किया गया है। वैसे तो आज प्रयोगवाद के युग में भी छायावाद के ढंग की रचनाएँ बहुतायत से हुई हैं। इसका कारण छायावाद की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा है। फिर भी प्रमुख रूप से और नवीन मानी जाने वाली प्रवृत्ति के रूप में हिंदी आधुनिक काव्य धारा का वर्तमान काल प्रयोगवाद के नाम से ही जाना जाता है। इसी प्रकार अन्य उत्थानों की बात है। यद्यपि आधुनिक काल की हिंदी कविता की विभिन्न धाराएँ वही हैं तथापि उन सब में कुछ ऐसी समान प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं जिनके कारण उन सबको एक ही काल—आधुनिककाल—के अन्तर्भूत किया जा सकता

है। एक बात जो आदि से अन्त तक प्राप्त होती है वह है नवयुग की चेतना। आधुनिककाल की कविता के मूल में स्थित भावना शृङ्गारयुग की सामन्ती संस्कृति का हास और नवयुग की चेतना का विकास है। उपरोक्त वर्णित आधुनिक काल की कविता की विभिन्न धाराओं में भेद केवल प्रतिक्रिया मूलक है अन्यथा सब धाराओं का आचार एक ही है। जब कभी कोई विशेष राजनीतिक अथवा सामाजिक प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई तभी उससे प्रभावित काव्य की एक पृथक धारा का प्रवर्तन हो गया। किंतु यह पार्थक्य केवल बाह्य रूप में दृष्टिगोचर होता है। इन विभिन्न धाराओं में कुछ ऐसी समान भावनाएँ हैं कि पार्थक्य की भावना नष्ट हो जाती है और आदि से अन्त तक नवयुग की चेतना के दर्शन होते हैं। यहाँ संक्षेप में हम आधुनिक काव्य की नवयुग की चेतना को दर्शाने वाली समान भावनाओं का विवेचन करेंगे।

आधुनिक काव्य में सामान्य रूप से पाई जाने वाली सबसे प्रमुख भावना देश-प्रेम अथवा राष्ट्रीयता की है जिसका वर्तमान स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयता है। भारतेन्दुयुग में यह भावना अंग्रेजी शासकों के प्रति राजभक्ति साथ ही शासन की बुराइयों की आलोचना के रूप में है। धीरे-धीरे इस राजनीतिक चेतना का प्रसार सुधार की प्रार्थनाओं में परिवर्तित होता है। और द्विवेदी युग के साथ ही प्रार्थनाओं तथा नरम नीति का त्याग और स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय भावना का विकास कांग्रेस के प्रभाव से होता है। यह राष्ट्रीय भावना द्विवेदी-युग में पुष्ट होती है और स्वतन्त्रता के देश-व्यापी आन्दोलन का प्रतिफलन करती है। द्विवेदी युग की कविता में देश-प्रेम, राष्ट्रीय एकता, विदेशी शासन का विरोध और साधारण जनता का स्वतन्त्रता आन्दोलन में सहयोग देना एवं देशव्यापी राजनीतिक जाग्रति स्पष्ट ही परिलक्षित होती है। छायावाद युग की कविता में इस राष्ट्रीय भावना का विकास जयशंकरप्रसाद की उत्कृष्ट कविता में परिलक्षित होता है। अब भारतेन्दु युग की निराशा दूर हो गई है और एक गरिमा आ गई है—प्रसाद जी का 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' गीत इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। इसी युग में आकर खादी राष्ट्रीयता की प्रतीक बनती है और देश के अतीत गौरव की ओर कवियों का ध्यान जाता है। प्रगतिवाद युग में राष्ट्रीयता की भावना का विकास होता है। वर्तमान युग की कविता में भी

राष्ट्रीयता की भावना का विकसित रूप अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्वबंधुत्व और विश्व-मानवतावाद इत्यादि—अनेक प्रकार से अभिव्यक्त हो रहा है।

आधुनिक-काव्य की दूसरी सर्व सामान्य भावना सामाजिक चेतना की है। आधुनिककाल की विभिन्न धाराओं के प्रायः सभी कवियों का ध्यान सामाजिक उत्थान की ओर आकर्षित हुआ है। भारतेन्दु युग के कवियों की सामाजिक चेतना का भाव अन्धविश्वास तथा कुरीतियों की आलोचना में लक्षित होता है। स्त्रियों को विलासिता की सामग्री समझने वाली मनोवृत्ति की बड़ी कटु-आलोचना हुई। आर्य समाज की बढ़ती हुई सामाजिक स्वतन्त्रता का रूप भी इसी युग में देखने को मिलता है। आर्यसमाजी कवि सामाजिक रुढ़ि के विरुद्ध हैं। ये अंधविश्वास और मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं। बाल-विवाह का विरोध इन कवियों ने सबसे अधिक किया है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव भी समाज पर बढ़ रहा था, इससे सामाजिक अव्यवस्था एवं सांस्कृतिक संघर्ष उपस्थित था। इस युग के सुधारवादी कवियों ने आपत्ति-जनक पश्चिमी विचारों और रहन सहन का विरोध किया है। इस प्रकार इस युग में सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति करने वाले तीन प्रकार के कवि हैं—अपरिवर्तनवादी (प्राचीन सामाजिक नियमों में श्रद्धा रखने वाले), सुधारवादी और आर्यसमाजी। किन्तु इन तीनों प्रकार के कवियों की सामाजिक चेतना के मूल में समाज का हित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस युग के कवि साम-यिक सामाजिक समस्याओं को महत्व देने लगते हैं। सामाजिक सुधार के मुख्य विषय ये हैं—वर्णाश्रम धर्म का पालन, अशिक्षा-निवारण, बाल विवाह, विधवा-विवाह, समुद्र-यात्रा, गोरक्षा। द्विवेदी युग में सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होता है और कविता में उसका प्रतिफलन होता है। द्विवेदी युग की कविता में तत्कालीन सामाजिक स्थिति का बड़ी सफलता से निरूपण हुआ है। धीरे-धीरे आर्यसमाज का खंडन मंडन सामाजिक कुरीतियों की आलोचना प्रत्यालोचना समाप्त हो चली थी और सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए जनता में पूर्ण जाग्रति हो चुकी थी। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से लोगों का दृष्टिकोण व्यापक हो रहा था और सामाजिक कुरीतियों को लोग छोड़ रहे थे। अब कवियों का सामाजिक समस्याओं को परखने का दृष्टिकोण भी बदल

रहा था। धीरे-धीरे कवि स्त्री शिक्षा के समर्थक हो रहे थे और दमयन्ती, सीता, गार्गी जैसी विदुषियों के देश की स्त्रियों की अविद्या एवं हीनदशा पर सहानुभूति प्रकट करने लगे थे। ज्यों-ज्यों स्त्री शिक्षा और नारी जाग्रति का प्रादुर्भाव और विकास हुआ त्यों-त्यों स्त्रियों के प्रति उच्च भावना का भी विकास हुआ। हिन्दी साहित्य की काव्यधारा के द्वितीय उत्थान-काल में स्त्री पुरुषों के साथ स्वतन्त्रता आन्दोलन में कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य कर रहीं थीं इसीलिए 'साकेत' की उर्मिला भी स्वयं सेना लेकर जाने की कामना करती है। हरिऔध की राधा की समाज सेवा की भावना भी तत्कालीन नारी जाग्रति की परिचायक है। कहने का तात्पर्य यह कि द्विवेदी युग की कविता में तत्कालीन सामाजिक चेतना पूर्ण रूप से मुखरित है।

छायावादी युग की कविता में भी सामाजिक चेतना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इस युग में सामाजिक समस्याओं का रूप बदला। मानवतावादी विचारधारा का पल्लवन हो रहा था और इस युग के कवि अपनी कविता में उन भावनाओं को उतार रहे थे। धीरे-धीरे राष्ट्रीय एकता की भावना के मूल में मानवतावाद की विचारधारा का विकास हुआ और दुःख और अत्याचार से पीड़ित मानवता की स्वतन्त्रता का प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया था। छायावाद-युग के कवियों ने एक ऐसी नवीन व्यवस्था का सन्देश सुनाया जिसके अन्तर्गत सभी जातियाँ भेद-भाव भूलकर सुख और शान्ति से रह सकती हैं। सामाजिक जीवन की उलझन भी छायावादी कविता में अभिव्यक्त है। सुमित्रानन्दन पन्त जी के अनुसार छायावाद युग के कवियों की मनःस्थिति सामाजिक जीवन की वास्तविकता के अनुरूप ही दुःख सुख में, भीतर बाहर में, आशा-निराशा और संयोग-वियोग के द्वंद्वों में सामञ्जस्य स्थापित करने लगी थी। इस युग की पीढ़ी का समाज बहुत ही निराशा था। प्रथम-महायुद्ध के पश्चात् अङ्गरेजों ने अपने वचन पूरे नहीं किये और देश के आर्थिक शोषण ने नवयुवकों का जीवन दुःखद बना दिया। बेकारी की समस्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी इससे नवयुवकों की मानसिक स्थिति बड़ी कष्ट पूर्ण थी। इस पीढ़ी की विफल आशाओं का चित्रण छायावादी कवियों ने अपनी कविता में किया है। हाँ, इस सम्बन्ध में एक ही बात स्मरणीय है और वह यह कि समाज की

निराशा और भाग्यवादिता का यह चित्रण इस युग के कलात्मक एवं सौंदर्यवादी काव्य में रहस्यमय ढंग से हुआ है। इसका रूप कविता में प्रच्छन्न है।

छायावादी कविता में सामाजिक चेतना 'सूक्ष्म' रूप में अभिव्यक्त हुई है। इसका स्थूल रूप प्रगतिवादी कविता में देखने को मिलता है। प्रगतिवाद के मूल में समाजवादी दर्शन है। यह पूर्णतया जनवादी काव्य है और लोकमत की अभिव्यक्ति इसका सौन्दर्य है। इस प्रकार इस युग के काव्य में सामाजिक चेतना पूर्णरूप से मुखरित है। इसका विस्तार से विवेचन करने की आवश्यकता नहीं। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रगतिशील कवियों ने तत्कालीन सामाजिक चेतना का एकॉगी रूप ही प्रस्तुत किया। वे निम्न वर्ग, भूमिक वर्ग और शोषितों की कहानी सुनाते रहे, बुर्जुआ वर्ग के प्रति उनकी घृणा होने के कारण उनकी सामाजिक स्थिति के प्रति उपेक्षा ही दर्शायी गयी है। वर्तमान युग में भी प्रगतिवादी विचारधारा का ही पल्लवन हुआ है। प्रयोगवादी कविता में सामाजिक गतिक्रम की छिप अवस्था का अच्छा परिचय मिलता है। यह काव्य सामाजिक आधार को अंशतः ही लेकर चलता है। आज मनोविश्लेषण विज्ञान के विकास से व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन की जो बहुत सी जटिलताएँ हमारे सामने प्रकट हुई हैं उनका प्रयोगवादी कविता में पूर्ण प्रतिफलन हुआ है। यथास्थान इसका विवेचन करेंगे।

आधुनिक काव्य की तीसरी सर्व-सामान्य-भावना यथार्थ की अनुभूति है। शृङ्गारकालीन कविता यथार्थ की अनुभूति से बहुत दूर है। आधुनिक काव्यधारा में यथार्थानुभूति नवयुग की चेतना को लेकर ही आई है। शृङ्गारयुग का काव्य राज्याश्रित था, जनवादी भावनाओं का चित्रण उसमें नहीं हो पाया। आधुनिक काल की कविता में जनता की भावनाओं का चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इसीलिए उसमें जन-जीवन की समस्याओं का प्रवेश हुआ और यथार्थ की अनुभूति की व्यंजना हुई। सामान्य जन-जीवन काव्य का विषय बना, शोषित पीड़ित कविता के साध्य बने। सम्पूर्ण जीवन को उसकी सुन्दरता और कुरूपता सहित स्वीकार करके कवियों ने सच्चाई के साथ काव्य में उसकी अभिव्यक्ति की है। आधुनिक युग का कवि जन-जीवन का लेकर चलता है इसलिए वह जीवन की कुरूपता एवं जटिलता पर परदा नहीं डालना चाहता।

यही वास्तविकता समस्त आधुनिक कविता का प्राण है। भारतेन्दु युग से वर्तमान युग तक की कविता में यथार्थ की अनुभूति भिन्न-भिन्न रूप में प्रतिफलित हुई है। भारतेन्दु युग में तो शृङ्गारयुग की प्रतिक्रिया स्वरूप काव्य के विषयों और उनकी प्रकाशन शैली दोनों को जन-जीवन से सम्बद्ध कर दिया गया। अब छन्दों में कजरी, ठुमरी, लावनी इत्यादि का प्रयोग करके कविता में यथार्थ को महत्व मिला। इसी प्रकार युग की परिस्थितियों का वर्णन भी यथार्थ की अनुभूति है। भारतेन्दु ने स्वयं लोक-साहित्य का सृजन किया और अपने मण्डल के अन्य कवियों को भी प्रेरणा दी। द्विवेदी-युग में कविता पूर्णतया राष्ट्रीय आन्दोलन को लेकर चली। इस युग की कविता में समाज-पक्ष पूर्णतया मुखरित है। अछूतोद्धार-आन्दोलन और कृषकों की अवस्था के चित्रण इत्यादि में यथार्थ की अनुभूति का विकास हुआ है। छायावादी कविता भी लोक-मंगल को सम्मुख रखकर चलती है। उसमें युगानुरूप वेदना की प्रवृत्ति पाई जाती है। छायावाद के प्रमुख कवियों प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी में यह प्रवृत्ति स्पष्टतया परिलक्षित होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि छायावादी कवियों की कल्पना प्रवणता के कारण यथार्थ की अनुभूति सूक्ष्म रूप में व्यक्त हुई है। प्रगतिवाद में यथार्थ की अनुभूति अपने स्थूल रूप में मुखरित है। प्रगतिशील कवियों के सामने वास्तविक यथार्थवाद का आदर्श रहा है। प्रगतिवाद-युग की काव्यधारा में यथार्थ की अनुभूति की अभिव्यक्ति मनो-विश्लेषणवाद की विचारधारा को लेकर भी चलती है। समाज-पक्ष के निरूपण में यथार्थ की अनुभूति समाज के अन्तर्गत अपना प्रभाव दिखाने वाले आर्थिक कारणों की व्याख्या करके शोषण का रूप दिखाती है। वर्तमान युग में प्रयोगवादी कविता में भी वास्तविक यथार्थवाद के दर्शन होते हैं। समाज-पक्ष में यथार्थ की अनुभूति राष्ट्रीयता की भावना से लेकर अन्तर्राष्ट्रीयता तक की भावना को व्यक्त करती है और मनोविश्लेषण के क्षेत्र में 'यौन वर्जनाओं' को। यथास्थान इस प्रवृत्ति का विस्तृत विवेचन किया जायगा।

आधुनिक काव्यधारा में चौथी सर्वसामान्य और महत्वपूर्ण भावना मानवतावाद की प्रतिष्ठा है। मानवतावादी विचारधारा का क्रमशः विकास हुआ है। भारतेन्दु युग के साथ ही हिन्दी कविता में जनवादी विचारधारा का

विकास हुआ और कवियों का ध्यान दुःखी तथा पीड़ित वर्ग की ओर आकर्षित हुआ। यह सहानुभूति बड़ी व्यापक है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। शृङ्गारयुगीन कविता में स्त्री विलासिता की वस्तु समझी गई। भारतेन्दु युग में आकर कवियों को स्त्री के प्रति और उसकी गिरी हुई दशा के प्रति सहानुभूति हुई। उनका ध्यान बाल-विवाह की कुरीतियों और विधवा-जीवन की विडम्बनाओं की ओर गया। इसी प्रकार इस युग में कवियों का ध्यान धार्मिक समस्याओं की ओर गया। विचार-स्वातंत्र्य की भावना बलवती हुई और भ्रातृत्व की भावना का विकास हुआ। इन बातों में मानवतावादी विचारधारा की भलक मिलती है। द्विवेदी युग की कविता में मानवतावादी विचारधारा बड़ी बलवती है। यह दृष्टि पश्चिमी शिक्षा का परिणाम थी। शिक्षा के विकास से दृष्टिकोण व्यापक हुआ और द्विवेदी युग की कविता में मानवीय मूल्यों की स्थापना हुई। दुष्चरित्रों में भी मानवीय मूल गुणों की उद्भावना हुई और मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में भक्तिकालीन कविता की तिरस्कृत पात्र कैकयी को उदारतापूर्वक प्रायश्चित्त करने का अवसर प्रदान किया। द्विवेदी युग की कविता में मानवतावादी विचारधारा का प्रवाह निरंतर प्रवाहित है। उसकी प्रेरणा में तीन विचारों का विशेष महत्व रहा है। एक तो निम्नवर्ग तथा शोषितों के प्रति सहानुभूति और उनके दुःखी जीवन की करुण अभिव्यक्ति, दूसरे नारी के उत्थान का प्रयत्न और तीसरे मानवता की सेवा करने की आध्यात्मिक भावना। निर्धन तथा शोषित जैसे कृषक, श्रमिक, अछूत इत्यादि के प्रति सहानुभूति का प्रदर्शन मैथिलीशरण, शियारामशरण इत्यादि की कविता में, नारी के उत्थान का प्रयत्न रामनरेश त्रिपाठी, अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त जी की कविता में और जन-सेवा का का आदर्श अयोध्यासिंह उपाध्याय की कविता में मुखरित हुआ है। छायावादी कविता में इस मानवतावाद का और अधिक विकास हुआ और इसमें विश्व-बंधुत्व की पुकार सुनाई पड़ी। छायावाद का सौन्दर्यवाद मानवतावादी विचारधारा से अनुप्राणित है। प्रसादजी ने कामायनी में मनु के रूप में हिमालय के उत्तुङ्ग शिखर पर बैठकर अपने कुटुम्ब को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मानवता को देखने का प्रयत्न किया है। प्रगतिवादी मानव की शक्ति में अद्भुत विश्वास

लेकर आया और उसे सर्वोपरि मानकर उसने निम्न स्तर के जीवन में मानवता के दर्शन किये। सच तो यह है कि प्रगतिवादी कवि ने मानवता की शक्ति में इतना अधिक विश्वास दिखाया कि वह ईश्वर के अस्तित्व में भी संदेह करने लगा। प्रकृति पर मनुष्य की विजय और विजयिनी मानवता की ध्वनि प्रगतिवादी काव्य में स्पष्ट सुनाई देती है। इसके अतिरिक्त शोषित वर्ग के साथ सहानुभूति भी स्पष्ट है। अब मानवता उच्चवर्ग या महलों एवं अद्वालिकाओं में बन्द न रहकर भोंपड़ियों तथा निम्न-वर्ग के निम्नकोटि के जीवन तक पहुँच गई। यहीं पर हम विश्व-संस्कृति एवं अन्तर्राष्ट्रीयता का भी विकास पाते हैं। वर्तमान युग के काव्य में भी मानवतावादी विचारधारा स्पष्ट परिलक्षित होती है। क्योंकि इस युग के काव्य में भी प्रगतिशील विचारधारा प्रवाहित है।

सारांश यह है कि आधुनिक हिंदी कविता में उपरोक्त सर्व सामान्य प्रवृत्तियों का विकास आदि से अन्त तक देखने को मिलता है। सच तो यह है कि नव-युग की चेतना का विकास ही इन प्रवृत्तियों में दिखलाई पड़ता है। इन्हीं समान भावनाओं को लक्ष्य करके हम आधुनिक काव्य की विभिन्न धाराओं को आधुनिक काल के अन्तर्भूत कर सकते हैं। आगे हम आधुनिक हिन्दी कविता की इन विभिन्न-धाराओं का पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे।

भारतेन्दुकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ

आधुनिक काव्यधारा का प्रथम उत्थान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम पर भारतेन्दु युग कहलाता है। भारतेन्दुजी इस उत्थान की काव्यधारा में महान् व्यक्तित्व के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। उन्होंने कविता में नवयुग की चेतना का प्रादुर्भाव किया, साथ ही कवियों का एक मण्डल स्थापित किया जिसने कविता में नवयुग की चेतना को उतारा। इस मण्डल के केन्द्र और प्रेरणा-बिन्दु भारतेन्दुजी ही थे। वस्तुतः आधुनिक काल के प्रारम्भिक दिनों में कविता का क्षेत्र सिमटकर प्रायः काशी में केन्द्रित हो गया और कवि शिरोमणि भारतेन्दु और उनके सहयोगी इसके प्रधान अभिनेता बने।

हम आधुनिककाल के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए लिख चुके हैं कि इस

काल में नवयुग की चेतना का प्रादुर्भाव तत्कालीन राजनीतिक चेतना, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति, प्रवृत्तियों और साहित्यिक पृष्ठभूमि में ढूँढ़ा जा सकता है। यदि भक्तिकालीन कविता में समाजपक्ष प्रबल था तो शृङ्गारकालीन कविता में दरबारी संस्कृति का प्रभुत्व भलकता है। इसी प्रकार आधुनिक हिंदी साहित्य जनवादी साहित्य है। भारतीय जनता (मध्यवर्ग) की सांस्कृतिक चेतना का विकास आधुनिक-काल के साहित्य में दिखलाई पड़ता है। इस सांस्कृतिक चेतना के विकास में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियाँ तथा पाश्चात्य सभ्यता का योग स्पष्ट लक्षित होता है, लेकिन नव-जाग्रति से उत्पन्न विचार-स्वातन्त्र्य केवल अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव हो ऐसा मानना उचित नहीं है। किसी भी युग का साहित्य एक सांस्कृतिक विकास की परम्परा का द्योतक होता है। उसमें अपने कुछ जातीय गुण होते हैं। भारतेन्दु युग का साहित्य पूर्णतया जनवादी साहित्य है और भारतेन्दुजी जन-जाग्रति के अग्रदूत।

अब हम भारतेन्दु-कालीन कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन करेंगे। ये इस प्रकार हैं—

(i) इस युग की कविता की मूल धारा देश-भक्ति की है। सन् ५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के पश्चात् भारत का शासन कम्पनी के हाथ से ब्रिटिश सरकार ने ले लिया, इसलिये अत्याचारपूर्ण राजनीति का अध्याय समाप्त हुआ और जनता को शान्ति और सुरक्षा की आशा बँधी। इसलिए कविता में राज-भक्ति का स्वर सुनाई पड़ता है। यह राज-भक्ति का प्रदर्शन कोरी ब्रिटिश शासकों की गुलामी ही नहीं है, इसमें देश की दशा सुधारने की प्रार्थना भी सन्निहित है, जो देशभक्ति की परिचायक है और यही इस युग की राष्ट्रीयता की भी द्योतक है। एक ओर तो हरिश्चन्द्र 'ब्रिटिश राजपद का परसन' परम मोक्ष फल मानते—

“परम-मोक्ष-फल राजपद - परसन जीवन माँहि।

बृटन - देवता राजसुत-पद परसहु चित चाहि॥”

तो दूसरी ओर उनके सहयोगी प्रेमघन अंग्रेज-शासक तथा उनके प्रतिनिधि भारतीय अधिकारियों की नीति का विरोध करते हुए उन्हें केवल भारत के हित

में शासन करने के लिए कहते हैं—

“करहु आज सों राज आप केवल भारत हित ;
केवल भारत के हित - साधन में दीने चित ।”

इस प्रकार राजभक्ति के भीतर देशभक्ति का स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ता है ।
श्रीर राजभक्ति के प्रदर्शन का कारण कम्पनी के अत्याचारपूर्ण शासन की समाप्ति और नवीन शासन व्यवस्था का स्थापित होना है—

ईस्ट इण्डिया कम्पनी कियो राज - काज इत ;
कियो समित उत्पात होत जे रहे इहाँ नित ।
पै बाकी स्वारथपरता अरु लोभ अधिकतर ;
राख्यो चित नित ही निज राज-बढ़ावन ऊपर ।

× × ×

लेकर राज कम्पनी के कर सों निज हाथन,
किय सनाथ भोली भारत की प्रजा अनाथन ।

यह राजभक्ति, विक्टोरिया की घोषणा का स्वागत, विक्टोरिया की मृत्यु पर ‘मातृहीन सब प्रजावृन्द’ कहकर शोक प्रकट करना, उस युग की राजनीतिक चेतना का स्वरूप है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस युग के कवि अपने देश के गौरव को भूल गए, नहीं, वे तो भारत की अतीतकालीन भव्यता का गुणगान करके देश की तत्कालीन अवस्था पर बड़े दुःखी हैं, उन पर यह भारत दुर्दशा देखी नहीं जाती—

जहँ शाक्य भए हरिचन्द नहुष ययाती,
जहँ राम युधिष्ठिर बामुदेव सर्याती ।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती,
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या रातो ।
अब जहँ देखहु तह दुःखहि दुःख दिखाई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई ।”

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि का हृदय भारत की स्थिति को देखकर द्रवित हो जाता है । इस शोक में भारत की सांस्कृतिक महत्ता और पाश्चात्य सभ्यता की ओर साम्प्रतिक जनता के आकर्षण का भी संकेत है । वे उनका

ध्यान प्राचीन भारतीय संस्कृति की ओर, जिसके नेता हरिश्चन्द्र, राम, युधिष्ठिर, वासुदेव आदि थे, ले जाते हैं। यह नवीन सांस्कृतिक राष्ट्रीयतावाद युग की कविता में स्पष्ट है। भारतेन्दु के शब्दों में—

जिनके भय कपित संसारा, सब जग जिनको तेज पसारा । . . .

युरूप अमरीका इहिहि सिद्धाहीं, भारत भाग सरिस कोउ नाहीं

आज जन-समुदाय बिना पथ-प्रदर्शक के बिगड़ रहा है, पाश्चात्य संस्कृति को अपना रहा है, इससे इन कवियों को बड़ा दुःख होता है। अंग्रेजी सभ्यता का 'केरीकेचर' हरिश्चन्द्र की एक मुकरी में देखने योग्य है—

सब गुरजन को बुरो बतावै, अपनी खिचड़ी आप पकावै ।

भीतर तत्व न, भूठी तेजी, क्यों सखि सज्जन नहि अंगरेजी ।

इतना ही नहीं उन्हें वीरता, एकता, ममता का अभाव खलता है। भारतीयों का उद्यम छोड़कर दास-वृत्ति अपनाना हीनता का द्योतक लगता है। इससे उन्हें बड़ी निराशा होती है और वे 'लावनी' में कह उठते हैं—

सब भौंति दैव प्रतिकूल होई एहि नामा ।

अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा ॥

+

+

+

इत कलह विरोध सबन के हिय घर करिहै ।

मूरखता को तम चारहु ओर पसरिहै ॥

वीरता एकता ममता दूर सिधरिहै ।

तजि उद्यम सब ही दास वृत्ति अनुसरिहै ॥

हैं जैहैं चारहु बरन शूद्र बनि दासा ।

अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा ॥

इसी सांस्कृतिक राष्ट्रीयतावाद का एक पक्ष अपनी भारतीय वस्तुओं को छोड़कर विदेशी वस्तुओं के व्यवहार पर प्रकट क्षोभ में है। भारतेन्दु ने विदेशी मलमल और मारकीन का व्यवहार करने वालों की कटु आलोचना की है—

“मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहिं काम,

परदेसी जुलहान के मानहुँ भये गुलाम ।”

केवल आलोचना ही नहीं जाग्रति के स्वर भी हैं—

परदेसी की बुद्धि अरु करि वस्तुन की आस ;
बरबस हूँ कब लौं कहौ रहिहौ तुम हूँ दास ।
काम खिवाब सिताब सों अब नहिं सरिहै मीत,
तासो उठहु सिताब अब छाँड़ि सकल भयभीत ।

और यही तो भारतीय आर्थिक स्थिति बिगड़ने का भी कारण है । एक ओर देश की आर्थिक दुरवस्था और दूसरी ओर साहबी रंग में रँगे नवयुवक । अम्बिकादत्त व्यास ने इन नवयुवकों की विशेषताएँ बतलाई हैं—

“पहिरि कोट पतलून बूट अरु हैट धारि सिर ;
भालू चरबी चरबी लवेंडर को लगाइ फिर
निज भाइन के रचे वसन भूषन नहिं भावत ;
मैनचेस्टर अरु लिवरपूल से लादि मँगावत ।”

इस युग के कवियों में देश की दयनीय अवस्था से उत्पन्न क्षोभ की परिणिति ईश्वर प्रार्थना में भी हुई है । वे बड़ी करुण पुकार करते हैं । ‘नीलदेवी’ में राष्ट्र को बचाने की नीलदेवी की प्रार्थना भारतेन्दु की अपने युग को बचाने की प्रार्थना है—

कहाँ करुणानिधि केशव सोए ?

जानत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए ॥

इसी प्रकार अपने ही हाथ सब कुछ खोने वाले भारतवासियों की दशा सुधारने की यह प्रार्थना—

“निज हाथन सर्वसु खोय चुके कहं लौं दुख पै दुख ही भरिए ।

हम आरत भारतवासिन पै अब दीनदयाल दया करिए ॥”

—प्रतापनारायण मिश्र

ईश्वर की शक्ति में विश्वास रखने वाले ये कविगण एक ओर देश की दयनीय स्थिति देखते हैं तो दूसरी ओर ईश्वर से भूतल पर अवतरित होने की प्रार्थना करते हैं—

प्रभु हो पुनि भूतल अवतरिए ।

अपने या प्यारे भारत के पुनि दुख दारिद हरिए ॥

महा अविद्या राजस ने या देसहिं बहुत सतायो ।

साहस पुरुषारथ उद्यम धन सब ही विधिन गंवायो ॥

—राधाकृष्णदास

इस प्रकार भारतेन्दु युग की कविता की प्रमुख प्रवृत्ति उसकी राष्ट्रीय भावना है। उसमें अंग्रेजी साम्राज्यवादी नीति के प्रति असन्तोष है और कांग्रेस के देश-व्यापी स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए ठोस भूमिका की तैयारी। विद्रोह का स्वर पूर्ण रूप से मुखरित है और अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति का पर्दाफाश है—

“भीतर भीतर सब रस चूसे, बाहर से तन मन धन मूसे ॥

जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन नहिं अंगरेज

—भारतेन्दु

इसीलिए स्वतन्त्रता का महत्व उन्होंने इन शब्दों में बतलाया है—

सब तजि गहौ स्वतन्त्रता, नहिं चुप लातै खाव ।

राजा करें सो न्याव है, पाँसा परे सो दाँव ॥

(२) भारतेन्दुकालीन कविता की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति जनवादी विचार-धारा की है। इस जनवादी विचारधारा का स्वर भारतेन्दु युग की कविता की विषय वस्तु और शैली दोनों में ही समान रूप से मुखरित हुआ है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में भारतेन्दु युग की जनवादी भावना उसके समाज सुधार में निहित है। अपनी पुस्तक ‘भारतेन्दु युग’ के तीसरे संस्करण की भूमिका में उन्होंने इस जनवादी प्रवृत्ति की सोदाहरण व्याख्या की है, वह इस प्रकार है—“भारतेन्दु युग का साहित्य जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज में पुराने ढाँचे से सन्तुष्ट न होकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाईचारे का भी साहित्य है। भारतेन्दु स्वदेशी आन्दोलन के ही अग्रदूत न थे, वे समाज-सुधारकों में भी प्रमुख थे। स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह, विदेश यात्रा आदि के वह समर्थक थे। इससे भी बढ़कर महत्व की बात यह थी कि भारतीय महाजनों के पुराने पेशे सूदखोरी की उन्होंने बड़ी आलोचना की थी। लिखा था, ‘सर्वदा से अच्छे लोग व्याज खाना और चूड़ी पहिनना एक-सा’

समझते हैं पर अब के आलसियों को इसी का अवलम्ब है ; न हाथ हिलाना पड़े न पैर, बैठे-बैठे भुगतान कर लिया ।” (कविवचन सुधा, २२ दिसम्बर १८७३) ।

भारतेन्दु युग की कविता में जनवादी विचारधारा के मुख्य स्वरूपों का विवेचन यहाँ हम सोदाहरण करने जा रहे हैं । जनवादी विचारधारा का एक स्वरूप तो समाज के दोषयुक्त अङ्ग की कटु आलोचना है । बनिये के सम्बन्ध में भारतेन्दुजी की फबतियाँ बड़ी सटीक हैं—

गल्ला कटै लगा है कि भैया जो है सो है ।

बनियन कौं गम भला है कि भैया जो है सो है ॥

गल्ला कटने से बनिये का गला सा कट जाता है । इस प्रकार वह किसान की दीनता का लाभ उठाने से रह जाता है । और भी—

कुप्पा भए हैं फूल के बनियाँ बफरते माल ।

पेट उनका दमकला है कि भैया जो है सो है ॥

‘बफरते माली बनिया’ से समाज को शिकायत है । उन्हें यों ही बफरने को नहीं छोड़ा जा सकता । यह है भारतेन्दु युग की प्रगतिशील जनवादी प्रवृत्ति । और भी ; ‘लाला’ का चित्र भी देख लीजिए । यह भी भूलने वाला नहीं है—

लाला की भैंसी शीर निचोवत में शाशी जब

दूध ओहमाँ मिल गवा है कि भैया जो है सो है ।

और यह ‘भैया जो है सो है’ क्या है, यह भी जनवाणी ही तो है । भारतेन्दु का सूत्र इस सम्बन्ध में मूल-मन्त्र है—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल ।

जरा जनवादी-वाणी को भारतेन्दुजी के इस मेम-मेहरिया के सम्बन्ध में कही गई उक्ति में भी देखिए—

का भवा, आवा है ए राम जमाना कैसा ।

कैसी मेहरारू है ई, हाय जनाना कैसा ॥

उस समय की मेम के प्रति जनवादी-विचारधारा का रूप इस उपेक्षा भरी उक्ति में व्यक्त हुआ है ।

भारतेन्दुयुग की कविता में साम्प्रतिक समाज की दशा का, विदेशी सभ्यता के संकट का, पुराने रोजगार सराफी-हुन्डी के बहिष्कार का, युगानुरूप जनवादी विचारधारा में स्वरूप देखना हो तो भारतेन्दुजी की जनवाणी में देखिए—

लोग क्रिस्तान भए जायें बन - थैं साहब ।
कैसा अब पुन्न धरम गंगा नहाना कैसा ॥
हाल रोजगार गवा धूर में बेवहार मिला ।
का सराफी रही हुन्डी का चलाना कैसा ॥
धोय के लाज सरम पीगए सब लड़कन लोग
काहे के बाप मतारी रहे नाना कैसा ॥

वेदमार्ग को छोड़कर मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित लोगों की कटु आलोचना राधाचरण गोस्वामीजी की कविता में देखने को मिलती है—

यज्ञ - याग सब भेट पेट भरन में चातुर ;
पितर पिंड नहिं देत यवन - सेवा में आतुर
पढ़े जनम तैं फारसी छोड़ वेद मारग दियो ।
हा हा हा बिधि वाम ने सर्वनाश भारत कियो ॥

एक और चीज है जिसकी भारतेन्दु युग की कविता में अत्यन्त कटु आलोचना हुई है। यह चीज है अंग्रेजों की शोषण नीति का प्रतीक 'टैक्स'। देखिए भारतेन्दु की बानी—

सबके उप्पर लगा टिक्कस कि उड़ा होस मोरा ।
रोवै क चाहिए हंसी ठीठी ठठाना कैसी ॥

महँगी और कर के कारण क्या दशा हो रही है—

महँगी और टिक्कस के मारे हमहिं क्षुधा पीड़ित तन छाम ।

यहाँ आपको बीच में ही रोककर यह और बतलाना है कि यह मध्यम-वर्ग की भावना है। भारतेन्दु युगीन कविता में मध्यमवर्ग की जनवाणी मुखरित हुई है। अब आगे चलिए ।

जरा बफरते माल महाजन और धनिक वर्ग द्वारा सताए कृषकों का दुखड़ा भी सुनिए—

जिनके कारण सब सुख पावें जिनका बोया सब जन खॉय ।
 हाय हाय उनके बालक नित भूखों के मारें चिल्लाय ।
 अहा बिचारे दुख के मारे निस दिन पच पच मरें किसान,
 जब अनाज उत्पन्न होय तब सब उठवाले जाय लगान ।

—बालमुकुन्द गुप्त

भारतेन्दु युग में दो विचारधाराएं स्पष्ट लक्षित होती हैं । एक तो पुराण-वादी परम्परा के समर्थकों की और दूसरी आधुनिक व्यापक दृष्टि वालों की । हरिश्चन्द्र ने प्रायः मध्यम मार्ग का अवलंबन किया है । तत्कालीन धार्मिक क्षेत्र की क्रान्ति को इस युग के कवियों ने वाणी दी । हरिश्चन्द्र ने सामाजिक दोषों, रूढ़ियों, कुरीतियों का घोर विरोध किया है । उन्होंने धर्म के नाम पर होने वाले दोंग की पोल खोल दी है ।

छुआछूत के अशुभ प्रचार का भी संकेत भारतेन्दु की कविता में मिलता है—

बहुत हमने फैलाये धर्म, बढ़ाया छुआछूत का कर्म ।

प्रेमघन जी की कविता में अंधविश्वास की खिल्ली उड़ायी गयी है—

प्रचलित हाय अंध परिपाटी पर तुम चलते जाते;

आर्यवंश को लज्जित करते कुछ भी नहीं लजाते ।

धर्म आप्रह सब है केवल करने ही को भगड़ा;

नहिं तो सत्य धर्म प्रेमी से कैसा किससे रगड़ा ।

यह मानवतावाद है, व्यापक दृष्टिकोण की सूचना है, यही नवयुग की चेतना का स्वरूप है । इसी को हम जनवादी विचारधारा के नाम से पुकारते हैं । प्रतापनारायण मिश्र स्त्रियों की शिक्षा के पक्षपाती हैं, बालविवाह के विरोधी हैं, विधवाओं के दुःख से लुब्ध हैं—

निज धर्म भली विधि जानै, निज गौरव पहिचानै ।

स्त्रीगण को विद्या देवै, करि पतिव्रता यश लेवै ।

भूँठी यह गुलाल की लाली धोवत ही मिटि जाय;

बालब्याह की रोति मिटाओ रहे लाली मुंह छाया ।

विधवा बिलपै नित धेनु कटें कोउ लागत हाय गोहार नहीं ।

आर्य समाज की धार्मिक क्रान्ति भी इसी युग में हुई थी और उसका स्वर भारतेन्दु युग की कविता में पूर्ण रूप से मुखरित हुआ है। इस प्रकार दुरंगी विचारधारा का प्रवाह इस युग में लक्षित होता है। इस स्थिति से उत्पन्न परिताप को भारतेन्दु जी ने एक 'कजरी' में बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है, देखिए—

भारत में एहि समय भई सब कुछ
बिनहि प्रमान हो दुइ-रंगी।
आधे पुराने पुरानहि मानें
आधे भये क्रिस्तान हो दुइ-रंगी।
क्या तो गद्दा को चना चढ़ावें
कि होइ दयानंद जायँ ही दुइ-रंगी।
क्या तो पढ़ें केथी कोठिवलियै
कि होइ बरिस्टर धाय हो दुइ-रंगी।
एहीं से भारत नास भया सब
जहाँ तहाँ यही हाल हो दुइ-रंगी।
होइ एक मत भाई सबै अब
छोड़हु चाल कुचाल हो दुइ-रंगी।

भारतेन्दु युग की इस मूल जनवादी धारा का इतना ही विवेचन पर्याप्त है। एक बात विशेष रूप से स्पष्ट करनी है और वह है जनवादी विचारधारा के आधार की ठोस यथार्थवादी अनुभूति की। यही वास्तविक यथार्थवाद है। यहाँ हम डा० राँगेयराघव के वास्तविक यथार्थवाद के सम्बन्ध में व्यक्त शब्दों को रखने का लोभ-संवरण नहीं कर सकते। उन्होंने लिखा है—
“जीवित रहने वाले व्यक्ति को चलते समाज के भीतर देखना और उस व्यक्ति के पूर्णत्व को प्रतिबिम्बित करके लोक-कल्याण की ओर ले जाने वाला वह वास्तविकता का चित्रण, जो उसे उदात्त बनाकर सत्य की ओर प्रेरित करता है, वही वास्तविक यथार्थवाद है।” और आगे डा० राँगेय राघव ने जनवादी विचारधारा से उत्पन्न मानवतावाद की पृष्ठभूमि को स्पष्ट किया है—“इस मानवतावाद की पृष्ठभूमि में यहाँ की विषमताओं और संघर्षों में चलने वाले

वे आन्दोलन हैं, जो जन समाज की आवाज को शकल देते रहे हैं, तो स्पष्ट ही उन शकलों के पीछे उत्पादन के साधन न बदलने, या धीरे बदलने, या असम रूप से बदलने के कारण मौजूद रहे हैं, जिन्होंने भटकों के स्थान पर विकास को ही ग्रहण किया है।” कहने का तात्पर्य यह है कि जनवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव और विकास साँस्कृतिक संघर्ष से हुआ है और यह समाज की आवाज को शकल देता रहा है। इसके लिए उसे यथार्थ की अनुभूति का आश्रय लेना पड़ता है तभी तो उसमें सजीवता आयगी। यह वास्तविक यथार्थवाद ही भारतेन्दुकालीन जनवादी धारा की आधार भूमि है।

यह तो हुई जनवादी धारा की विषय-वस्तु की बात, अब इसकी प्रकाशन शैली का भी परीक्षण करना चाहिए। जैसे विचार हैं वैसी उसकी प्रकाशन शैली है। जन-वाणी को न अलंकार चाहिए और न शब्दाडम्बर। फिर जन-जागरण का उपाय ही इससे अच्छा क्या हो सकता है कि ग्रामीण जनता में नवयुग की जनवादी विचारधारा का प्रचार उन्हीं के छंदों में किया जाय। गीतों का ग्रामीण जनता पर विशेष प्रभाव है, इसलिए भारतेन्दुजी का विचार है कि “ऐसे गीत बहुत छोटे छोटे छंदों में साधारण भाषा में बनें, वरंच गवॉरी भाषाओं में और स्त्रियों की भाषाओं में विशेष हो। कजली, ठुमरी, खेमटा, कंहरवा, अढ़ा, चैती, गजल इत्यादि ग्राम गीतों में इनका प्रचार हो।” भारतेन्दु जी के इन शब्दों में हम जन वाणी का महत्व भली-भाँति समझ सकते हैं। पहले हमने ‘भैया जो है सो है’ में जनवाणी के रूप की ओर संकेत किया था। भारतेन्दुयुग की कविता में कजरी, ठुमरी, लावनी, मुकरी, पहेली इत्यादि जन-बानी के रूप हैं। यहाँ आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय जी के ये शब्द विशेष महत्व पूर्ण सिद्ध होंगे—“वह (भारतेन्दु जी) ‘ग्राम कविता’ का भक्त नहीं, पर ग्राम-भाषा भी ‘अमृत बानी’ से रिक्त न रहे, यह उसकी लालसा अवश्य है। इसी से उसका यह विज्ञापन है (तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै)। इस विज्ञप्ति के द्वारा जिस जन-शाणी का सत्कार बढ़ा वह किसी कोने की भाषा नहीं, प्रत्येक जनपद की जन-शाणी है। ‘जनपद’ को विष्णुपद’ तक लाने और ‘भारती’ को विश्वभारती बनाने के लिये जो उसने उद्योग किए उसकी इति कहाँ ? उसकी तो कामना

थी भारत को एक देखना । उसकी तो दृष्टि में—

इक भाषा, इक जीव, इक मति, कें लोग ।

तबै बनत है सबन सों, मिटत मूढ़ता सोग ॥

भारत में सब भिन्न अति, ताही सों उत्थात ।

विविध देस मतहू विविध, भाषा भिविध, लखात ।”^१

एक अन्य स्थान पर पाँडेय जी ने कहा है “क्या यह हमारे अभिमान की बात नहीं है कि हमारी नागरी का नेता नागर हरिश्चन्द्र था जो ‘गंवारी’ (भाषा) का रसपान करने में तनिक भी नहीं हिचकता था । उसकी एक नायिका का आग्रह है—

लिखाय नाहीं देत्यो पढ़ाय नाहो देत्यो, सैया फिरगन बनाय नाहीं देत्यो ।

लहंगा दुपट्टा नीको न लागे, मेमन का गौना भंगाय नाहीं देत्यो ॥”^२

भारतेन्दु जी ने जन-जाग्रति के लिए जातीय संगीत के प्रचार का महत्व बतलाया था । उन्होने जनता में प्रचार के लिए ग्रामगीतों के विषय चुने थे थे जिससे उनकी यथार्थवादी मनोवृत्ति स्पष्ट झलकती है । ये विषय इस प्रकार हैं —

बाल विवाह—इसमें स्त्री का बालक पति होने का दुःख फिर परस्पर मन न मिलने का वर्णन, उससे अनेक भावी अमंगल और अप्रीतिजनक परिणाम ।

जन्मपत्री की विधि—इससे बिना मन मिले स्त्री पुरुष का विवाह और इसकी अशास्त्रता ।

बालकों की शिक्षा—इसकी आवश्यकता, प्रणाली, शिष्टाचार शिक्षा, व्यवहार शिक्षा आदि ।

बालकों से बर्ताव—इसमें बालकों से योग्य रीति पर बर्ताव न करने से उनका नाश होना ।

(१) जन-जागरण का अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—लेखक श्री चंद्रबली पाण्डेय पृ० ११

(२) वही पृ० १३.

अंगरेजी फैशन—इससे बिगाड़ कर बालकों का मद्यदि सेवन और स्वधर्म विस्मरण ।

स्वधर्म चिन्ता—इसकी आवश्यकता ।

भ्रूणहत्या और शिशुहत्या—इसके प्रचार के कारण, उसके मिटाने के उपाय ।

फूट, हत्या और बैर—इसके दुर्गुण, इसके कारण भारत की क्या क्या हानि हुई इसका वर्णन ।

मैत्री और ऐक्य—इसके बढ़ने के उपाय, इसके शुभ फल ।

बहुजातित्व और बहुभक्तित्व—के दोष इससे परस्पर चित्त का न मिलना, इसी से एक दूसरे के सहाय में असमर्थ होना ।

योग्यता—अर्थात् केवल वाणी का विस्तार न करके सब कामों के करने की योग्यता पहुँचाना और उदाहरण दिखलाने का विषय ।

पूर्वज आर्यों की स्तुति—इसमें उनके शौर्य, औदार्य, सत्य, चातुर्य, विद्यादि गुणों का वर्णन ।

जन्म-भूमि—इससे स्नेह और इसके सुधारने की आवश्यकता का वर्णन ।

आलस्य और संतोष—इसकी संसार के विषय में निन्दा और इससे हानि ।

व्यापार की उन्नति—इसकी आवश्यकता और उपाय ।

नशा—इसकी निन्दा इत्यादि ।

अदालत—इससे रुपया व्यय करके नाश होना और आपस में न समझने का परिणाम ।

हिंदुस्तान की वस्तु हिंदोस्तानियों को व्यवहार करना—इसकी आवश्यकता, इसके गुण, इसके न होने से हानि का वर्णन ।

भारतवर्ष के दुर्भाग्य का वर्णन—करुण रस संवलित ।

ऐसे ही और और विषय जिसमें देश की उन्नति की संभावना हो लिए जायँ, यद्यपि यह एक विषय एक एक नाटक, उपन्यास वा काव्य आदि के ग्रंथ बनाने के योग्य हैं और इन पर अलग ग्रंथ बने तो बड़ी ही उत्तम बात

है, पर यहाँ तो इन सब के छोटे छोटे सरल देशभाषा में गीत और छन्दों की आवश्यकता है जो पृथक् पुस्तकाकार मुद्रित होकर साधारण जनों में फैलाये जायेंगे।

—हरिश्चन्द्र

वस्तुतः भारतेन्दुयुगीन कविता की सबसे बड़ी देन यथार्थ की अनुभूति है जो विविध रूप में व्यक्त हुई है। इस काव्य में डा० रांगेयराघव की पदावली में 'जीवित रहने वाले व्यक्ति को चलते समाज के भीतर' देखने का प्रयत्न है "और उस व्यक्ति के पूर्णत्व को प्रतिबिम्बित करके लोक कल्याण की ओर ले जाने वाला यह वास्तविकता का चित्रण, जो उसे उदात्त बनाकर सत्य की ओर प्रेरित करता है।"

(३) भारतेन्दु युगीन काव्य धारा की तीसरी मुख्य प्रवृत्ति उसमें प्राचीन परिपाटी की कविता का सृजन है। भक्ति और शृंगार की परम्पराएँ भारतेन्दु युग तक चलती चली आई थीं। यही कारण है कि भारतेन्दु जी ने स्वयं तथा उनके अन्य सहयोगियों ने सैकड़ों पद पुराने भक्त कवियों की परिपाटी पर बना डाले। कुछ कवि नायिकाओं के नख-शिख वर्णन में भी संलग्न थे। दान-लीला, मृगया इत्यादि विषयों को लिखने के लिए रीति-काव्य-पद्धति अपनाई गई। भारतेन्दु जी को एक भक्त-हृदय प्राप्त था। उनके भक्ति के पदों में भक्त के हृदय की स्निग्धता देखने को मिलती है—

ब्रज के लता पता मोहि कीजै ।

गोपी पद पंकज पावन का रज जामैं सिर भीजै ।

आवत जात कुंज की गालियन रूप सुधा नित पीजै

श्री राधे मुख यह वर मुँह भाग्यौ हरि दीजै ।

×

×

×

छिपाये छिपत न नैन लगे ।

उधरि परत सब जानि जात हैं घूँघट मैं न खगे ।

कितनो करौ दुराव दुरत नहीं जब ये प्रेम पगे ॥

निडर भये उधरे से डोलत मोहन रंग रंगे ।

भारतेन्दु जी ने रीति परिपाटी पर बहुत सी कविताएँ की हैं। उनकी 'प्रेम माधुरी' में पद्याकर तथा देव का सा शृंगार वर्णन मिलता है। कहीं-

कहीं तो प्रेम की चंचल एवं पर पीड़क वृत्ति का उद्घाटन पद्माकर तथा बिहारी को कोटि का मिलता है, जैसे—

सजि सेज रंग के महल में उमंग भरी ।
 पिय गर लागी काम—कसक मिटायें लेत ॥
 ठानि विपरीति पूरी मैंन मसूसन सों ।
 सुरत-समर जयपत्रहि लिखायें लेत ॥
 हरीचन्द उभकि उभकि रति गाढ़ी करि ।
 जोम भरी पियहिं भकोरन हरायें लेत ॥
 याद करि पी की सब निरदय घातें आजु ।
 प्रथम समागम का बदलो चुकायें लेत ॥

उन्होंने रीतिकालीन आचार्यों की भांति यौन-विकृति जैसे स्वरति, समरति चित्ररति, वस्त्ररति, परपीड़न रति इत्यादि का वर्णन भी किया है ।

इस प्रकार भारतेन्दु में शृंगार कालीन आचार्यों के भी दर्शन होते हैं । उन्होंने कुछ त्योहारों का वर्णन शृङ्गारकालीन परम्परा पर किया है । ‘होली’ शृंगार रस का मुख्य त्योहार है—देखिए—

खेलौ मिलि होरी ठोरा केसर कमोरी फेंको ।
 भरि-भरि भोरी लाज जिय में बिचारौ ना ।
 डारौ सबै रंग संग चंगहू बजाओ गाओ,
 सबन गिभाओ सरसाओ संक धारौ न ॥
 कहत निहोरि कर जोरि ‘हरिचंद’ प्यारे,
 मेरी बिनती है एक हा हा ताहि टारौ ना ॥
 नैन हैं चकोर मुख चन्द तें परैगी ओट,
 यातें इन आँखिन गुलाल लाल डारौ ना ॥

यह तो हुआ शृंगार रस का रीति-परम्परा का वर्णन । भारतेन्दु जी ने कहीं-कहीं प्रेम की गम्भीर एवं संवेदनशील वृत्ति का बड़ा उत्कृष्ट चित्रण किया है । इनमें कहीं-कहीं सूर की गोपियों की सा विदग्धता मिलती है—

हौं तो याही सोच में बिचरत रही री काहे,
 दरपन हाथ तें न छिन बिसरत है ।

त्यों ही हरिचन्द्र जू वियोग और संयोग दोऊ,
एक से तिहार कछु लखि न परत है ।
जानी आज हम ठकुरानी तेरी बात,
तू तो परम पुनीत प्रेम पथ विचरत है ॥
तेरे नैन मूरति पियारे की बसत ताहि,
आरसी में रैन दिन देखिबो करत है ॥

इस कवित्त में कवि ने पहले प्रौढ़ा नायिका और पीछे अनूढ़ा नायिका का वर्णन किया है । इन वर्णनों में हम सूर की गोपियों की सी प्रेम विदग्धता एवं सवेदनशीलता की झलक पाते हैं । सूर की पंक्तियों से मिला लीजिए—

राधे मिले हू प्रतीति न आवति ।

यद्यपि नाथ बिधु बदन विलोकत दरसन को सुख पावति ॥

भारतेन्दु जी ने नवोढ़ा नायिका की क्रिया-प्रतिक्रिया का बड़ा सजीव वर्णन किया है जो मध्यकालीन शृङ्गार की परम्परा में आता है—

आई केलि के मन्दिर में प्रथम नवेली बाल ।
जोरा-जोरी पिय मन-मानिक छुड़ाये लेत ॥
सौ-सौ बार पूछे एक उत्तरु मरु कै देति ।
घूँघट के ओट जोति मुख की दुराय लेति ॥
चूमन न देत 'हरिचन्द्र' भरि लाज अति ।
सकुचि-सकुचि गोरे अंगनि चुराये लेति ॥
गहत हि हाथ नैन नीचे किये आँचर में ।
छवि सौं छबीली छोटी छातिन छुपाये लेति ॥

भारतेन्दुजी की 'चन्द्रावली' नाटिका के प्रेम-वर्णनों में मध्य-युगीन झलक स्पष्ट लक्षित होती है । चन्द्रावली की प्रेममग्न अवस्था देखिए—

तेरे नैन मूरति पियारे की बसत ताहि,
आरसी में रैन - दिन देखिबौ करत है ।

इसी का उत्कर्ष आगे इन शब्दों में है—

जिन आँखिन में तुव रूप बस्यो,
उन अंसुबनि सौं अब देखिए का ?

आनन्दधन की भाँति इन्होंने भी पवन-दूत की योजना की है—

अरे पौन सुख भौन सबै थल गौन तुम्हारो ।

क्यों न कहौ राधिका रौन सों मौन निवारो ॥

शृङ्गारयुग की पद्धति पर कविता करने वालों में भारतेन्दुयुग के बाबू राधा कृष्णदास का नाम भी उल्लेखनीय है। मोहन की मोहिनी मूर्ति पर इनका रीक भी अनोखी है—

मोहन की यह मोहिनी मूरत, जीय सों भूलत नाहिं भुलाये ।

छोरन चाहत नेह को नातो, कोऊ बिधि छूटत नॉहिं छुराये ॥

'दासजू' छोरिकै प्यारे हहा, हमें और के रूप पै जाइ लुभाये ।

भूलि सकै अब कौन जिया उन, तो हंसिके पहिले ही चुराये ॥

और भी ; बिहारी की दुःखिया आँखों के सम्बन्ध में कही हुई इस उक्ति 'इन दुखिया आँखियान को सुख सिरज्यो ही नॉहिं' की व्याख्या भारतेन्दुजी से सुनिये और मिलाइये कि शृङ्गार-युग की परिपाटी का कहाँ तक अनुकरण है—

इन दुखियान को न सुख सपनेहूँ मिल्यौ

यों ही सदा व्याकुल विक्ल अकुलायंगी ।

प्यारे हरिचन्दजू की बीति जानि औधि जौ पै

जै हैं प्राण तऊ ये तो संग न समायंगी ॥

+ + +

बिना प्राण प्यारे भये दरस तिहारे हा,

देखि लीजौ आँखें ये खुली ही रह जायँगी ॥

भारतेन्दुयुग की कविता में केवल शृङ्गारकाल की ही परम्परा नहीं है उसमें भक्ति-युगीन-परम्परा भी जीवित है। फिर इसकी अभिव्यक्ति में सूरदास के पद और तुलसी की विनयपत्रिका की वन्दनाओं की झलक भी स्पष्ट है। इस पद को सूरदास के पदों से मिला लीजिये—चन्द्रावली कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को सखियों से पहले तो छिपाती रहती है परन्तु अन्त में स्वीकार कर लेती है और अपने नेत्रों को दोष देती है—

सखी ये नैना बहुत बुरे ।

तब सों भये पराये, हरि सों जव सों जाइ जुरे ॥

मोहन के रस बस हैं डोलत तलफत तनिक दुरे ।
मेरी सखि प्रीत सब छाड़ी ऐसे ये निगुरे ॥
जग स्त्रीभयौ बरज्यौ पै ये नहिं हठ सों तनिक मुरे
अमृत भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे ॥

इसीप्रकार तुलसीदास की विनय-पत्रिका की ध्वनि भी इस पंक्ति में
सुन लीजिए—

“नवल नील मेघवरन, दरसत त्रय-ताप हरन,
परसत सुखकरन, भक्त सरन - जमुनाबारी ।”

—कृष्णचरित्र में ।

इसप्रकार भक्तिरस के पदों में भारतेन्दुजी में सूरदास की परम्परा की झलक
स्पष्ट लक्षित होती है । डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में—“किन्हीं-किन्हीं
शृङ्गार-रस के पदों में वह सूरदास के इस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ पदों से टक्कर
लेते हैं—

“आजु उठि भोर वृषभानु की नन्दिनी फूल के महल तें निकसि ठाढ़ी भई
खसित मुख ससितें कलित कुसुमावली मधुप की मंडली मत्त रस हैं गई
छन्द की बिलम्बित गति, शब्दावली का लालित्य और चित्र का सौन्दर्य
सभी सूरदास के उत्कृष्ट पदों से होड़ करते हैं ।”^१

(४) भारतेन्दुयुगीन काव्यधारा की चौथी मुख्य प्रवृत्ति उसमें कलात्म-
कता का अभाव है । नवयुग की अभिव्यक्ति करने वाली यह कविता कला-
त्मक न हो सकी । इसमें कलात्मकता लाने में बहुत समय लगा । डा०
केशरीनारायण शुक्ल के शब्दों में इस युग की कविता में कलात्मकता
का अभाव इस उत्थान में विचारों का संक्रांतिकाल होना है । वे कहते हैं—
“प्रथम उत्थान नवयुग का आरम्भमात्र था । इसलिए हमें इस समय
की कविता में उस कलात्मकता के दर्शन नहीं होते जो कालान्तर में
सतत परिश्रम के अनन्तर प्रकट हुई । काव्य-विषयों के सर्वथा नवीन
होने के कारण, इनकी काव्य-पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए समय की आव-
श्यकता थी ।” फिर जनता की मनोवृत्ति भी बदलनी थी, उन पर से प्रेमगीतों

का प्रभाव हटाना था। डा० शुक्लजी ने इसी प्रसंग में आगे लिखा है—
इसलिए जब देशवासियों के सामने ऐसी कविता उपस्थित की गई, जिसका
प्रधान विषय आधुनिककाल की समस्याओं का—जिनसे जनता उदासीन थी—
निरूपण था तो वे अपने को शीघ्र इसके अनुकूल न बना सके।.....इस
प्रकार काव्याभिव्यक्ति का अभाव तथा विचारों की मौलिकता दोनों प्रथम
उत्थान की कविता में कर्कशता तथा कलाहीनता के कारण बने।.....कवि
नवीन विचारों को पचाकर पूरी तरह से अपना नहीं बना सके। फलतः ये
इसकी काव्यपूर्ण अभिव्यक्ति में असफल रहे।”१

इस युग की कवितामें कलात्मकता के अभाव का एक और कारण भी दृष्टव्य
है, वह है उस युग में गद्य का और समाचार-पत्रों का प्रचार। कवि समाचारपत्रों
द्वारा ही अपनी कविता का प्रचार करते थे इसलिए उन्हें इसे काव्यपूर्ण बनाने
की विशेष चिन्ता नहीं थी। डा० शुक्लजी ने इस युग की कविता में कलात्म-
कता के अभाव का एक और कारण बतलाया है, वह है भाषा का अस्तित्व एवं
नागरी आन्दोलन। इस आन्दोलन के लिए कवियों को जनमत जागरित
करना था इसलिए उन्होंने जनबानी को अपनाया और उसमें कलात्मकता से
बचे रहे। कवियों ने नागरी-आन्दोलन-सम्बन्धी अपने विचारों को पद्यबद्ध रूप
दिया। सारांश यह कि उस युग के कवि तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक,
आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं भाषा-सम्बन्धी समस्याओं में इतने व्यस्त थे
कि वे नवयुग की चेतना को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त न कर सके और उसमें
सर्वत्र यथार्थ की अनुभूति की सच्चाई सरल भाषा-शैली में अभिव्यक्त हुई है।
इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस युग के कवियों के उद्गारों की अनुभूति में
कुछ दोष था। वस्तुतः उनके उद्गारों की अनुभूति की सत्यता तो प्रशंसनीय
है। इससे उन्होंने जन-जागरण का महान् प्रयत्न किया। देखिए धार्मिक
उदारता की कितनी सरल अभिव्यक्ति है—

खंडन-मंडन की बातें सब करते सुनी सुनाई।

गाली देकर हाथ बनाते बैरी अपने भाई ॥

है उपासना भेद न उसके अर्थ और विस्तारो ।

सभी धर्म के वही सत्य सिद्धांत न और विस्तारो ।

इसलिए जब हम मुख्य प्रवृत्ति की बात कहते हैं तो यही कहना पड़ता है कि नवीन कविता में कलात्मकता का अभाव तथा प्रभावहीनता है । कविता-प्रचार के लिए और विशेषकर ग्रामों में प्रचार करने के लिए और वह भी पुस्तकाकार नहीं—समाचार-पत्रों में—छपती थी, इसलिए यह प्रवृत्ति और भी विकसित हुई ।

(५) भारतेन्दुयुगीन कविता की भाषा मुख्यतया ब्रजभाषा ही रही है । वैसे इस युग के अन्तिमकाल में खड़ीबोली में भी रचनाएँ हुईं । खड़ीबोली का प्रचार गद्य तक सीमित रहने का कारण गुलाबरायजी की इस युक्ति में ढूँढ़ा जा सकता है “गद्य की अपेक्षा पद्य में रुढ़िवाद अधिक दिन तक ठहरता है ।” किन्तु इस युग के अन्तिम दिनों में खड़ीबोली में कविता बनाने का आन्दोलन प्रारम्भ हो जाता है और द्विवेदी-युग में पद्यक्षेत्र में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा हो जाती है । त्रयोध्यानाथ खत्री, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र इत्यादि भारतेन्दु युग के कवियों ने खड़ीबोली में कविता करने का प्रयास किया है । प्रेमघनजी की कविता का एक उदाहरण—

हमें जो हैं चाहते निवाहते हैं प्रेमघन,

उन दिलदारों से ही मेल मिला लेते हैं ।

हरिश्चन्द्रजी की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

सौंभ सबेरे पंखी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है ।

हम सब एक दिन उठ जायेंगे यह दिन चार बसेरा है ॥

प्रतापनारायण मिश्र का एक पद देखिए—

जब से देखा प्रियवर मुखचन्द्र तुम्हारा

संसार तुच्छ जँचता है हमको सारा ।

इच्छा रहती है नित्य यह शोभा देखें,

लावण्यमयी यह दिव्य मधुरता देखें ॥

श्रीधर पाठक की कुछ पंक्तियाँ—

यह भूमि भारती, अब क्या पुकारती ।

इस्के ही हाथ से तो हुई इसकी दुर्गती ॥

होते हैं पाप घोर लाखों अरब करोर ।

सब शोर करते हैं पचपच के मरते हैं ॥

श्रीधर पाठक ने खड़ीबोली को पुष्ट करने के लिए कुछ अंग्रेजी काव्यों के अनुवाद प्रस्तुत किए । दिन पर दिन खड़ीबोली का स्वर पुष्ट होता गया । निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए—

वन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अभिमानी हों ।

बान्धवता में बँधे, परस्परपरता के अज्ञानी हों ॥

उपरोक्त उद्धरणों से एक बात तो स्पष्ट हो गई, वह यह कि भारतेन्दु युग में खड़ीबोली में उच्चकोटि की रचना नहीं मिलती । इसका कारण स्पष्ट ही ब्रजभाषा की माधुरी पर उस युग के कवियों की रीझ है । भारतेन्दुजी ने खड़ीबोली में कविता करने का प्रयत्न किया, पर कर न सके । वस्तुतः उस युग में भाव-व्यंजना का प्रधान माध्यम ब्रजभाषा ही रही । खड़ीबोली के आचार्य पं० श्रीधर पाठक भी ब्रजभाषा की माधुरी मानते थे—

“ब्रजभाषा-सरीखी रसीली वाणी को कविता के क्षेत्र से बहिष्कृत करने का विचार केवल उन हृदय-हीन अरसिकों के हृदय में उठना सम्भव है, जो उस भाषा के स्वरूप-ज्ञान से शून्य और उसकी सुधा के आस्वादन से बिलकुल वंचित हैं ।” इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्रजभाषा की माधुरी का भारतेन्दु युगीन कवियों पर बड़ा गहरा प्रभाव था ।

(६) भारतेन्दु युग में कवियों ने छन्द के क्षेत्र में कोई नवीन एवं स्वतन्त्र प्रयास नहीं किया है । डा० केशरीनारायण शुक्ल ने लिखा है—“भारतेन्दु युग के कवियों ने भावाभिव्यक्ति के लिए, परम्परा से चले आते हुए छन्दों का ही उपयोग किया है । इनमें छंद सौंदर्य का नवीन उपक्रम नहीं लक्षित होता । भक्ति तथा रीतिकाल के कवित्त, सवैया, रोला, दोहा और छप्पय इस युग में भी प्रचलित थे । इन छन्दों में सवैया तथा रोला इस समय के कवियों को अधिक प्रिय थे । इन दो छन्दों के उपयोग में किंचित स्वतन्त्र उद्भावना के

दर्शन होते हैं। प्रेम तथा शृंगार की अधिकांश कविता, सवैया (और कहीं-कहीं कवित्त) छन्द में लिखी गई है और आधुनिक विषय रोला छन्द में वर्णित है। भारतेन्दु युग में नवीन छन्दों की कल्पना नहीं हुई।” आगे लोक साहित्य की चर्चा करते हुए डा० शुक्ल लिखते हैं—“तत्कालीन लोक-साहित्य (Popular literature) के अध्ययन से भारतेन्दु युग में नवीन छन्दों का अभाव इतना नहीं खटकता। शुद्ध साहित्यिकों से दूर रहकर भी साधारण जनता भिन्न-भिन्न छन्दों में अपनी भावना व्यक्त कर लोक-साहित्य की वृद्धि कर रही थी। इनके प्रमुख छन्द लावनी और कजली में प्रयुक्त हुए हैं और इसीसे इनकी रचनाएँ लावनी तथा कजली के नाम से प्रसिद्ध और संग्रहीत हैं।”

जातीय संगीत का गाँव-गाँव के साधारण लोगों में प्रचार करने के लिए भारतेन्दुजी ने कजली, टुमरी, खेमटा, कहरवा, गजल, अझा, चैती, होली, साँझी, लबें, लावनी, बिरहा, चनेनी इत्यादि छन्दों को अपनाने पर जोर दिया था। उन्होंने लिखा था—“उत्साही लोग इसमें जो बनाने की शक्ति रखते हैं वे बनावें, जो छपवाने की शक्ति रखते हैं वे छपवा दें और जो प्रचार की शक्ति रखते हैं वे प्रचार करें। मुझसे जहाँ तक हो सकेगा मैं भी करूँगा।”

भारतेन्दुकालीन कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों का अध्ययन करने से उसकी काव्य-स्थिति स्पष्ट हो चुकी है। अब हम द्विवेदी युग की काव्यधारा के विकास का अध्ययन करेंगे।

द्विवेदी युग की कविता की प्रवृत्तियाँ

आधुनिक काव्यधारा का द्वितीय उत्थान आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम पर द्विवेदी-युग कहलाता है। आचार्य द्विवेदी जी के प्रादुर्भाव के साथ ही आधुनिक काव्यधारा में पुनः परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। यह परिवर्तन बड़ा व्यापक था। इसका प्रभाव उस युग की काव्य-वस्तु और शैली एवं भाषा दोनों पर ही पड़ा। सन् १९०३ में महावीर प्रसाद द्विवेदी का सरस्वती का संपादन भार संभालना एक महत्वपूर्ण घटना है और इस घटना के साथ ही परिवर्तन प्रारम्भ होता है। इस युग के काव्य पर द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की इतनी

गहरी छाप है कि इसे हम उन्हीं के नाम पर द्विवेदी युग कह सकते हैं ।

अधिकोश भारतेन्दुकालीन कविता रूढ़िग्रस्त थी और पुरानी ब्रजभाषा की परिपाटी का अनुसरण हो रहा था । नवयुग की चेतना का विकास होने पर भी भारतेन्दु युग की कविता शृंगारकालीन परिस्थितियों को पूर्णतया छोड़ने में समर्थ न हो सकी और इन पुरानी प्रवृत्तियों के साथ ही नवीन जनवादी धारा भी प्रवाहित होती रही । द्विवेदी युग में इस नवीन काव्यधारा का उद्रेक बड़े वेग से हुआ, जिसके फलस्वरूप ब्रजभाषा की पुरानी धारा लुप्तप्रायः सी हो गई । शृंगारकालीन काव्य परम्पराओं का ही लोप नहीं हुआ वरन् उनको अभिव्यक्त करने वाली ब्रजभाषा को काव्य के माध्यम के रूप में प्रायः सर्वथा त्याग दिया और उसके स्थान पर खड़ीबोली की प्रतिष्ठा हुई । इस प्रकार काव्य-भाषा विषयक एक बड़ी समस्या सुलभ गई और खड़ीबोली काव्य-भाषा के रूप में सर्व सम्मति से स्वीकृत कर ली गई । भाषा के साथ द्विवेदी जी ने कविता की शैली में भी सुधार किया । द्विवेदी जी का यह भी आग्रह था कि कविता की भाषा गद्य की व्यवहारिक भाषा होनी चाहिये । द्विवेदीजी मर्यादावादी थे इसीलिए शृंगार की भावना को प्रोत्साहन नहीं देते थे । उनके प्रभाव से आधुनिक युग की कविता के द्वितीय उत्थान में शृंगारकालीन शृंगार की प्रवृत्ति को अश्लील मानकर उसका बहिष्कार किया गया । द्विवेदी जी के व्यापक प्रभाव से उनके समय की कविता में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता हो गई और उस युग का सम्पूर्ण काव्य अभिधा का उत्कृष्ट काव्य बनकर रह गया । उसमें लक्षणा का, चित्रमयता एवं अलंकारों का और व्यंजना का प्रायः अभाव हो गया । मातृभूमि-प्रेम और स्वदेश-गौरव, मानवतावाद तथा बुद्धिवादी प्रवृत्ति इस युग की कविता की प्राण बनी । अब कविता का उद्देश्य केवल मनोरंजन न रहा, और उसमें मानव-जीवन की सामान्य भावनाओं का समावेश भी होने लगा । साथ ही गम्भीरता का तत्व विशेष रूप से आया । द्विवेदी-युग की कविता प्रायः एक बँधी प्रणाली में हुई थी, जिसके प्रवर्तक आचार्य द्विवेदी थे इसीलिए इस युग का नामकरण उनके नाम पर उपयुक्त ही है ।

द्विवेदी-युग की काव्यधारा के विकास पर उस युग की राजनीतिक चेतना

सामाजिक अवस्था और धार्मिक स्थिति का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। फिर भी इस युग के साहित्य में राजनीतिक चेतना का स्वर अधिक मुखरित हुआ है। इस युग की कविता राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत है। उसने राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रमुख विषय बना लिया है। उस युग में कॉंग्रेस धीरे-धीरे प्रार्थना और नरम नीति छोड़ने लगी थी। देश की स्वतन्त्रता के लिए एक बड़ा राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ होने वाला था। इसीलिए कांग्रेस मध्य-वर्ग को साथ लेकर चलने लगी थी। उधर बग-भंग के पश्चात् स्वदेशी आन्दोलन का प्रसार हो रहा था। इटली के स्वतन्त्रता युद्ध, रूस-जापान युद्ध और जापान की विजय, आयर-लैंड के होम रूल आन्दोलन इत्यादि घटनाओं से भारतीय राजनीति में एक नवीन युगान्तर उपस्थित हुआ। इन परिवर्तनों का तत्कालीन काव्य-धारा पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा। 'देश-प्रेम' कविता का प्रमुख विषय हो गया। उधर नवीन शिक्षा के प्रसार से एवं पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से शिक्षित भारतीय जनता में नया उत्साह उत्पन्न हुआ। उन्हें स्वातन्त्र्य-युद्ध में नवीन प्रेरणा मिली। तत्कालीन काव्यधारा में इस राजनीतिक चेतना से उद्भूत देश-प्रेम की भावना में देश के प्रति प्रेम और आदर, उसके प्राचीन गौरव एवं संस्कृति की महानता का वर्णन और देश-स्वातन्त्र्य-युद्ध आदि भावनाएँ समन्वित हैं।

द्विवेदी-युग में सामाजिक क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ। अब पूर्वयुग के वाद-विवाद, आलोचना-प्रत्यालोचना का स्थान ठोस सामाजिक-उत्थान करने की भावना ने ले लिया और स्त्री-शिक्षा इत्यादि आश्चर्यजनक वस्तु नहीं रह गईं। मानवता के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण प्रादुर्भूत हुआ। मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखा गया और निरन्तर शोषण के बीच जीवन-यापन करने वाले अशिक्षित और श्रमिकों का जीवन अब हिंदी कवियों का प्रिय विषय बन गया। इसका कारण मध्यवर्ग में राजनीतिक चेतना का संचार और उनका राष्ट्रीय आन्दोलन में बढ़ता हुआ प्रभाव ही था। साथ ही नारी के रूप को भी महानता प्रदान की गई। अब वह भी पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग ले रही थी। अब वह शृंगारकालीन सामंती बिलासिता का उपकरण समझी जाने वाली, नारी नहीं रह गई थी। मैथिली-

शरण गुप्त की कविता में हमें नारी के महान् स्वरूप के दर्शन होते हैं ।

द्विवेदी-युग में नवीन शिक्षा के प्रसार एवं वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रभाव बड़ा व्यापक पड़ा । वैसे तो आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही हमें पुरातनता के प्रति एक विद्रोह सुनाई पड़ता है परन्तु द्विवेदी युग में बुद्धिवाद का बोलबाला है । इसीलिए हिंदी के धार्मिक काव्य में अवतारवाद की भावना का विरोध दिखलाई पड़ता है । माईकेल मधुसूदनदत्त ने अपने 'मेघनाथ-वध' नामक महाकाव्य में अवतारवाद के प्रति विद्रोह किया । इस बुद्धिवाद का प्रभाव द्विवेदीयुगीन मानव जीवन पर बड़ा व्यापक पड़ा । अब हम रूढ़िवादिता एवं गली सड़ी प्राचीन परम्पराओं को छोड़ रहे थे । इसीलिए दलित एवं निम्न वर्ग का भी उद्धार हो रहा था और रूढ़ि से दुष्ट माने जाने वाले पात्रों में भी नवीन मानवीय मूलों की स्थापना हो रही थी । कहने का तात्पर्य यह कि लोगों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वैज्ञानिक एवं तार्किक दृष्टि से विचार करना प्रारम्भ कर दिया था । इसीलिए अलौकिक चरित्रों का वैज्ञानिक-तार्किक कसौटी पर शुद्ध रूप न पाकर बहिष्कार हो रहा था । अलौकिक कृत्यों का भी मानवीयकरण हो रहा था ।

द्विवेदी-युगीन काव्य धारा की राजनीतिक चेतना, सामाजिक अवस्था एवं धार्मिक स्थिति की पृष्ठभूमि का अध्ययन करने से उस युग की काव्यस्थिति का आधार स्पष्ट हो गया है । अब हम द्विवेदीयुगीन काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियों का विचार करेंगे—

१—भारतेन्दु युगीन काव्यधारा की भांति द्विवेदी युगीन काव्यधारा की मूलधारा भी देश-भक्ति की है । हाँ, इतना अन्तर है कि देशभक्ति की प्रवृत्तियों पर नवीन समय और नवीन कवियों की छाप पड़ी है । कवियों की नवीन मनो-दृष्टि के अनुसार पुरानी प्रवृत्तियाँ कुछ-कुछ परिवर्तित हो गई हैं और यह परिवर्तन भी स्पष्ट लक्षित होता है । कांग्रेस अब राष्ट्रीय संस्था के रूप में विकसित हो रही थी और अब देशभक्ति के क्षेत्र से प्राचीन हिंदू इतिहास तथा परम्परा का महत्व हट गया और कवियों का ध्यान अतीत से अधिक वर्तमान की ओर है । साथ ही कांग्रेस मध्यवर्ग के हाथ में चली गई है । इसका स्वरूप मध्यवर्ग की राजनीतिक चेतना में देखने को मिलता है । इसीलिए इस युग

के कवि समस्त जनता—विद्यार्थी, मजदूर, किसान, स्त्री पुरुष, बूढ़े-बच्चे सभी—को देश की स्वतन्त्रता और समृद्धि के लिए आत्मबलि कर देने को प्रेरित करते हैं। कवियों का विशेष आग्रह सांप्रदायिक सामंजस्य और सदृच्छा में दिखलाई पड़ता है क्योंकि भारत की उन्नति के लिए सभी जातियों का सच्चा मेल आवश्यक है। रामनरेश त्रिपाठी में एकता का विशेष आग्रह है। ये देशवासियों को द्वेष-भाव छोड़कर देश की सर्वतोमुखी उन्नति करने के लिए प्रेरणा देते हैं और इस लक्ष्य की प्राप्ति में आत्मबलिदान करने का महत्व सिद्ध करते हैं—

उठो त्याग दें द्वेष एक ही सबके मत हों,
सीख ज्ञान विज्ञान कला-कौशल उन्नत हों।
सुख सुधार सर्पति शान्ति भारत में भर दें;
अपना जीवन हमें सहर्ष समर्पित कर दें।

भारत की उन्नति सिद्धि स हम सबका कल्याण है।

दृढ़ समझो इस सिद्धान्त को हम शरीर यह प्राण है ॥

वस्तुतः उस युग में ऐसी भावनाओं का महत्व स्पष्ट ही है। बंग-भंग की भारत विरोधी और जाति-भेदीकरण की नीति से राष्ट्रीय भावनाओं से पूरित भारतीय जनता की आँखें खुल गईं और वे अंग्रेजों को बड़े सन्देह की दृष्टि से देखने लगे और इसकी प्रतिक्रियास्वरूप तथा राष्ट्रीयता के अनुरूप सभी जातियों में भ्रातृत्व भावना का प्रचार हुआ। रूपनारायण पांडेय एक कविता में ईसाई, मुसलमान, पारसी, जैन, बौद्ध इत्यादि सभी भारत-देश में निवास करने वाली जातियों में भ्रातृत्व का विकास करने पर जोर देते हैं—

जैन बौद्ध पारसी यहूदी मुसलमान सिख ईसाई।

कोटि कंठ से मिलकर कह दो हम सब हैं भाई भाई ॥

पुण्यभूमि है, स्वर्ग भूमि है, जन्म भूमि है देश वही।

इससे बढ़कर या ऐसी ही दुनिया में है जगह नहीं ॥

इस प्रकार उस युग की राष्ट्रीयता में एक तत्त्व साम्प्रदायिक विभेद दूर करने का था। क्योंकि अंग्रेज भेदीकरण की नीति पर अपने साम्राज्य की नींव दृढ़ कर रहे थे। इसलिये देश प्रेम एवं राष्ट्रीयतावाद के लिए साम्प्रदायिक

एकता एक आवश्यक तत्व हो गया था ।

द्विवेदीयुगीन काव्यधारा की राष्ट्रीयभावना की दूसरी विशेषता उसका सांस्कृतिक पक्ष है । कवियों ने देश के प्राचीन स्वरूप के प्रति बड़े पूज्य भाव व्यक्त किये हैं । गुप्त जी संसार द्वारा सम्मानित प्राचीन भारत को श्रद्धा प्रेम की दृष्टि से देखते हैं—

जगत ने जिसके पद छुए ।

सकल देश ऋणी जिसके हुए ।।

ललित लाभ कला सब था जहाँ

वह हरे ! अब भारत है कहाँ ।।

जहाँ भारतेन्दु-युग में केवल प्राचीन के प्रति पूज्य भाव था और नवीन के प्रति निराशा वहाँ अब कवियों में शक्ति और साहस का अपूर्व मिश्रण दिखाई पड़ता है । भारतेन्दु-युगीन निराशा के स्थान पर इस युग की कविता में आशा और विश्वास के स्वर मुखरित हैं । इन भावनाओं को जगाने में मैथिलीशरण गुप्त का कार्य महत्वपूर्ण है । 'भारत-भारती' जन-जन के कंठ की भारती बनी, उसने आशा एवं उत्साह का संचार किया, देखिए—

तृत्रिय ! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो ।

निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो ।।

वैश्यो सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का ।

सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का ।।

द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय-भावना की तीसरी विशेषता जन्मभूमि के दैवी-करण और उसके प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन है । मातृभूमि का सौन्दर्य दर्शन श्रीधर पाठक की इस कविता में देखिये—

बन्दहु मातृ भारत-धरनि ।

सेत हिमगिरि सुपय सुरसरि तेज तप मय तरनि ।

सरित बन कृषि भरित भुव छवि सरस कवि-मनहरनि ।

बंकिमचन्द ने 'बन्दे मातरम्' के मनोहारी गीत में मातृभूमि की वन्दना करते हुए उसके प्राकृतिक सौन्दर्य का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है । यह मातृ-भूमि सु-जलाम है, सु-फलाम है, इसमें शीतल मलयज प्रवाहित होता है, शस्य

से श्यामलाम है और फुल्ल कुसुमित द्रुमदल-शोभिनीम- सुहासिनीम तथा सुमधुर भाषिणीम है, तभी तो तीस करोड़ कण्ठों से कलकल कराल निनाद निकलता है। यह उस युग की राष्ट्रीय भावना का प्रतीक गीत है और द्विवेदी-युग के हिन्दी कवियों पर इसका यथेष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

द्विवेदी-युगीन काव्यधारा में व्यक्त राष्ट्रीय भावना की चौथी विशेषता उसका राजनीतिक चेतना का स्वर है। काँग्रेस के आन्दोलन से स्वदेशी की लहर दौड़ गई थी। स्वराज्य तथा 'होमरूल' से संबंध रखने वाली अनेक कविताएँ द्विवेदी युग में लिखी गईं। राजनीतिक चेतना की झलक मैथिली-शरण गुप्त, श्रीधर पाठक, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही की कविताओं में देखने को मिलती है। इन कवियों ने अपनी कविताओं द्वारा स्वदेशी वस्तुओं को व्यवहार में लाने तथा भारत के स्वातंत्र्य युद्ध के लिए तत्पर रहने की प्रेरणा दी थी। इन कवियों का लक्ष्य सर्वतोन्मुखी जाग्रति था। इसलिए वे जाग्रति और संघटन का संदेश सुना रहे थे। इन कवियों ने नवयुवक विद्यार्थी वर्ग में चेतना का संचार करके उन्हें उद्बुद्ध करने का विशेष प्रयत्न किया। श्रीधर पाठक एक कविता में विद्यार्थियों को सत्सेवा का व्रत धारण कर देश की उन्नति करने को प्रेरित करते हैं—

अहो छात्रवर-वृन्द नव्य भारत-सुत प्यारे।

मातृगर्व-सर्वस्व मोदप्रद गोद-दुलारे।

सतसेवा व्रत धार जगत् के हरो क्लेश तुम।

देश-प्रेम में करो प्रेम का अभिनिवेश तुम।

रामनरेश त्रिपाठी ने जनता में राजनीतिक चेतना फैलाने के लिए कुछ वर्णनात्मक काव्य लिखे, जिनमें 'मिलन' 'स्वप्न' तथा 'पथिक' मुख्य हैं। इस प्रकार द्विवेदी युग का काव्य काँग्रेस की राष्ट्रीयता को लेकर प्रवाहित हुआ है। इसीलिए इसमें एकता और आशापूर्ण उत्साह सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। देशवासी अब स्वतन्त्रता के लिए बड़े से बड़ा मूल्य देने को तैयार थे। काँग्रेस की 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' पुकार का तत्कालीन काव्य पर उचित ही प्रभाव पड़ा है। बाबू गुलाबराय के शब्दों में द्विवेदी युग की कविता की राष्ट्रीय भावना का स्वरूप गुप्तजी के सम्बन्ध में कही गई इस उक्ति

में झलकता है “राष्ट्रीयता की जो तान भारतेन्दु जी ने छोड़ी थी उसका स्वर गुप्तजी में बहुत ऊंचा हो जाता है।”

(२) द्विवेदी युग की काव्यधारा की दूसरी मुख्य विशेषता उसकी मानवतावादी विचारधारा की है। डाक्टर रवीन्द्रसहाय वर्मा ने अपनी पुस्तक ‘हिंदी काव्य पर आँग्ल प्रभाव’ में द्विवेदी युग की कविता में व्यक्त मानवतावाद के स्वरूप की शृङ्गारकालीन पृष्ठभूमि के आधार पर बड़ी मार्मिक व्यंजना की है। देखिए—“मानवता के प्रति रीतिकालीन हिन्दी कवियों का दृष्टिकोण बहुत ही संकीर्ण था। उनके लिए समस्त पुरुष नायक थे और स्त्रियाँ नायिकाएँ। उस हासोन्मुखी युग में मानव व्यक्तित्व के केवल इसी एक रूप की अभिव्यक्ति सम्भव हो सकी। रीतिकाल से पहले भक्तिकाल में भी मानव व्यक्तित्व की साहित्य क्षेत्र में पूर्णाभिव्यक्ति धार्मिक वातावरण के कारण न हो सकी थी। किन्तु द्विवेदी युग में प्रथमवार मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखा गया और शृंगारिकता एवं धार्मिकता की संकीर्ण-कारा में दीर्घकाल से बंदिनी मानवता को मुक्त करने का प्रयास किया गया। काव्य अब उच्चवर्गीय जीवन मात्र का प्रतिबिम्ब न होकर, निम्नवर्ग के जीवन का भी चित्रण करने लगा। निरंतर शोषण के बीच जीवन-यापन करने वाले अशिक्षित कृषकों और श्रमिकों का जीवन अब हिन्दी कवियों का प्रिय विषय बन गया। इस प्रकार काव्य दुःख और दैन्य से त्रस्त मानवता के जीवन को अभिव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हो गया।” इस मानवतावादी विचारधारा के द्विवेदीयुगीन काव्य में तीन स्वरूप मिलते हैं—(i) समान-भावना—इसके अन्तर्गत स्त्री पुरुष की समानता आती है। (ii) पीड़ित और दुःखियों के प्रति सहानुभूति और (iii) मानवीय गुणों की सहज स्थापना द्वारा परम सत्य के स्वरूप की विवृति।

जहाँ तक द्विवेदीयुगीन काव्यधारा में व्यक्त समानता की भावना का संबंध है इसका मूल कॉंग्रेस के मध्यवर्गीय आन्दोलन और उसके व्यापक स्वरूप में ढूँढ़ा जा सकता है। कॉंग्रेस का आन्दोलन समाज की पूर्ण व्याप्ति को आधार बनाकर चलता है। इसमें नारी का योग भी सहज ही प्राप्त हुआ। अब नारी पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर चलने वाली वीरप्रसू के रूप में आती है। इस प्रकार शृङ्गारकालीन नायिका भेद के लक्षण-स्वरूप नारी जीवन की मान्यताएँ

बदलीं। स्त्री-स्वातन्त्र्य संबंधी भावनाओं का विकास नवयुग की चेतना के विकास के साथ ही हुआ था, अब समानता की भावना दृढ़ हो रही थी। और इस समानता की चर्चा में ही नारी के प्रति पूरक भावनाओं का भी सहज ही विकास हो रहा था। इस संबंध में प्राचीन रूढ़ियों में भी नवयुग-दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। नारीत्व के प्रति उच्च भावना की अभिव्यक्ति करने वाले द्विवेदी युग के चार कवि प्रमुख हैं—श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त। श्रीधर पाठक ने स्त्री के प्रति अत्याचारों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। और प्रभु से उसमें सुधार करने की प्रार्थना की है—

प्रार्थना अब ईश की सब करहु कर जुग जोर।

दीन बधु सुदृष्टि कीजै बाल-विधवा-आर।।

श्रीधर पाठक महिला समाज में जाग्रति चाहते हैं। उनके प्राचीन महत् स्वरूप की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं—

अहो पूज्य भारत-महिला-गण अहो आर्यकुल प्यारी।

अहो आर्यग्रह लक्ष्मि सरस्वति आर्यलोक उजियारी।

आर्य जगत में पुनः जननि निज जीवन-ज्योति जगाओ।

आर्य-हृदय में पुनः आर्यता का शुचि स्रोत बहाओ।

यह तो हुआ द्विवेदी युग की प्रारम्भिक अवस्था की भावना का स्वरूप। उत्तरोत्तर नारी समाज का महत्व बढ़ता गया। रामनरेश त्रिपाठी के काव्य में नारीत्व के प्रति उच्च-भावना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। त्रिपाठी जी के 'स्वप्न' नामक खंडकाव्य की नायिका महान् भावनाओं से ओत प्रोत है। वह अपने पति को कर्ममार्ग में स्थित हो जाने का उपदेश देती है—

सेवा है महिमा मनुष्य की न कि अति उच्च विचार द्रव्य बल।

मूल हेतु रवि के गौरव का है प्रकाश ही न कि उच्चस्थल।

मन की अमित तरंगों में तुम खोते हो इस जीवन का सुख।

नायिका के उद्बोधन से उसका प्रिय स्वदेश-प्रेम से विह्वल हो जाता है और अपनी अद्भुत वीरता द्वारा सब का नेता बनकर विजय प्राप्त करता है।

इसी प्रकार 'मिलन' काव्य की नायिका अपने पति की जीवन सहचरी तथा राष्ट्र सेविका है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय के काव्य में भी नारी के महान् स्वरूप का उद्घाटन हुआ है। उन्होंने नारी के प्रति उच्च भावना के स्वरूप को सम्मुख रख कर ही नायिका के नवीन भेद किये हैं। उन्होंने 'रसकलश' में देश-प्रेमिका, जाति प्रेमिका, जन्मभूमि प्रेमिका, लोक सेविका, धर्म-प्रेमिका इत्यादि नायिकाओं के नवीन रूपों की उद्भावना की है जो नवयुगोन विचारधारा के अनुकूल ही हैं। प्रियप्रवास की राधा लोकसेविका नायिका है। वह अपने प्रिय से अलग होकर रोती नहीं रहती वरन् समाज की सेवा में ही अपने प्रेम की चरम परिणिति देखती है। वह अपने प्रिय के सामीप्य का त्याग भी लोकहित के लिए कर सकती है—

प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहें न आवें।

इसी प्रकार हरिऔध जी की वैदेही भी आधुनिक जाग्रत नारी का सुष्ठु स्वरूप है। वह स्वयं वनवास के लिए उद्यत है।

नारीत्व के प्रति उच्च भावना को प्रमुख रूप में लेकर चलने वाले इस युग के प्रमुख एवं प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त हैं। उनकी कविताओं में नारी का बहुत महान् स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इसके लिए उन्होंने मुख्य-रूप से कवियों द्वारा उपेक्षित नारी को ही अपने काव्य में चित्रित किया है। साकेत की उर्मिला और कैकेयी, यशोधरा की यशोधरा और द्वापर की विधृता ऐसी ही नारी हैं। साकेत महाकाव्य के मूल में उर्मिला और लक्ष्मण की वह मर्मस्पर्शी कथा अनुस्यूत है जिसको गोस्वामी तुलसीदास ने राम और सीता के महात्म्य के चकाचौंध में दबा दिया था। इसके साथ ही एक और विशेषता है। साकेत की उर्मिला और कैकेयी का स्वरूप पौराणिक नारियों का सा नहीं है वरन् उन पर आधुनिक युग की छाप स्पष्ट द्रष्टव्य है। यहाँ तक कि उर्मिला स्वयं सैन्य संगठन कर लंका प्रस्थान करने के लिए तत्पर होती है। बिलकुल स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने वाली नारी की छाप है। उसमें त्याग भी कम नहीं है, वह अपने घर रहना उचित समझती है प्रिय के पथ में विघ्न नहीं बनना चाहती—

कहा उर्मिला ने—हे मन ! तू प्रिय पथ का विघ्न न बन ।

प्रेम के शुभ प्रभाव का उर्मिला के हृदय पर बढ़ा व्यापक प्रभाव लक्षित होता है । वह वियोग के उन्माद में लक्ष्मण को अपने सम्मुख देखकर व्याकुल होकर कहने लगती है—

प्रभु नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे ।

हम गिरे, अहो । तो गिरे, गिरे ।

साकेत की उर्मिला में आधुनिकता की झलक भी है । प्राचीन रूढ़ियों को त्याग दिया है । उर्मिला के हृदय का औदार्य देखते ही बनता है । सूरदास की गोपियाँ कृष्ण के वियोग में कहती है कि—

मधुवन तुम कत रहत हरे

विरह-वियोग श्यामसुन्दर के ठाड़े काहे न जरे ।

पर उर्मिला की विचारधारा भिन्न है, वह कहती है—

रह चिर दिन तू हरी भरी

बढ़ सुख से बढ़, सृष्टि सुन्दरी ।

प्रसंगवश जरा उर्मिला का उदात्त स्वरूप भी देख लीजिए,—

ऊषा-सी आगई उर्मिला उसी ठौर तब ।

वीणाँगुलि-सम सती एतरती-सी चढ़ धाई,

तालपूर्ति-सी संग सखी भी खिंचती आई ।

आ शत्रुघ्न-समीप रुकी लक्ष्मण की रानी,

प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी ।

जटा-जाल-से बाल विलम्बित छूट पड़े थे,

आनन पर सौ अरुण, घटा में फूट पड़े थे ।

माथे का सिंदूर सजग अंगार-सदृश्य था,

उर्मिला के रूप में नारी की महान् मूर्ति के दर्शन होते हैं । यह उस युग की चेतना का ही प्रभाव है । 'मृदूनि कुसमादपि' नारी कितनी कठोर एवं वीर मूर्ति धारण कर सकती है यह देखने योग्य है । नारी का यह रूप शृङ्गारकाल में तिरोहित हो गया था । भारतेन्दु युग में नारी को पुनः नारी रूप में देखने का प्रयत्न हो रहा था और द्विवेदी युग में नारीत्व के प्रति उच्च-भावनाओं की

ठोस स्थापना हुई। गुप्त जी ने यशोधरा में भी नारी का, युग युग की तपस्विनी नारी का बड़ा उदात्त चित्र खींचा है—

अबला जीवन हाथ तुम्हारी यही कहानी।

आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

गुप्त जी की यशोधरा में नारी का विश्व-कल्याणी रूप है। नारी पुरुष के मार्ग का विघ्न नहीं है वरन् वह उसकी साधना की पुजारिण है, वह पति को क्षात्रधर्म-पालन हेतु रणाङ्गण में प्रस्तुत कर सकती है—

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,

प्रियतम को प्राणों के पण में

हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते।

द्विवेदीयुगीन काव्यधारा में नारी भारतीय संस्कृति की मूर्ति है। इसलिए उसमें तपस्या, संयम, त्याग एवं आत्मोत्सर्ग की भावनाएँ कूट-कूट कर भरी हैं। वह तिल-तिल कर मिटना जानती है। यशोधरा के ये शब्द नारी जीवन की इसी साधना के द्योतक हैं—

इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी भारी।

आर्य पुत्र ले चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।

फिर यदि वह पतिव्रता है तो कौन भय। इस श्रद्धा के सहारे वह अनेक संकट सह सकती है। गुप्त जी की यशोधरा की छोटी सी उक्ति में उसका आत्मसम्मान भी झलकता है—

मेरे ये निश्वास व्यर्थ यदि उनको खींच न लाये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी-युगीन कविता में नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व एवं स्वस्थ रूप है। शृंगारकालीन ह्रास-युग का अवशेष समाप्त हो चुका है और नारी पुरुष की सहचरी एवं सहायिका बन गई है। वह शक्ति का अवतार है और अपने मानुषी रूप में ही महान् गुणों से परिपूर्ण है।

द्विवेदीयुगीन काव्यधारा के मूल में जो मानवतावादी विचारधारा प्रवाहित हो रही थी उसकी दूसरी विशेषता सत्य और न्याय के समर्थन की है। इस युग के कवि सामाजिक अत्याचार और धार्मिक असहिष्णुता की बड़ी आलोचना करते हैं। पीड़ित जनता के प्रति इनकी सहानुभूति अत्यन्त प्रबल है।

इसीलिए गरीब किसान, विधवा, अछूत आदि का इन कवियों के काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है। किसान की बात लीजिए। द्विवेदी युग में किसान की बड़ी लम्बी चर्चा मिलती है। कारण कॉंग्रेस-आंदोलन है जो कृषक-वर्ग को बड़ा महत्व देता है। मैथिलीशरण गुप्त की कविता में कृषक-वर्ग के जीवन के बड़े सुन्दर चित्र हैं, जैसे 'किसान' में।

शोषितों में नारी वर्ग का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए मानवतावादी विचारधारा के पोषक द्विवेदी-युग के कवियों का ध्यान नारी वर्ग की ओर आकर्षित हुआ है। इसीलिए द्विवेदी युग में नारी स्वातंत्र्य, नारीशिक्षा, नारीमहात्म्य का पाठ सुनाई पड़ता है साथ ही दहेज प्रथा के कारण जो कन्याओं का अपमान होता है उसकी ओर भी संकेत है।

यह सहानुभूति एवं समवेदना का चित्रण यथार्थवादी एवं इतिवृत्तात्मक ढङ्ग से ही अधिक हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त के काव्यों में (जैसे यशोधरा में नारी स्वरूप का) यह सहानुभूति अत्यन्त मर्मस्पर्शी एवं अनुभूतिपूर्ण हो गई है।

द्विवेदी युग में मानवतावादी विचार धारा का तीसरा स्वरूप मानवीय गुणों की सहज स्थापना द्वारा परम सत्य के स्वरूप की विवृति में मिलता है। द्विवेदी युग की राजनीति मानव-हितवादी-धर्म को आधार बनाकर चली थी, इसीलिए मानव सद्प्रवृत्तियों का विकास, मानवता की सेवा और उसकी आराधना का आदर्श सम्मुख रखकर चलना सहज एवं स्वाभाविक ही था। इस युग के कवियों ने मानव-सेवा में ही ईश्वर भक्ति की परिणिति दिखाई। यहाँ भक्ति-मार्ग का पूर्व इतिहास भी स्मरणीय है। भक्तिकाल में ईश्वर भक्ति के दो स्वरूप मिलते हैं—एक शास्त्र सम्मत रूढ़ियों एवं परम्पराओं को लेकर चलने वाला धर्म का रूप—जिसमें आचार, विचार, मर्यादा, मूर्तिपूजा, धार्मिक कट्टरता इत्यादि मुख्य आधार थे। दूसरा समाज सुधारकों का धर्म जो खण्डन मण्डन करके एक ऐसे व्यापक धर्म की स्थापना कर रहे थे जो सब जाति, वर्ग एवं वर्ण को आत्मसात करने की शक्ति रखता था—जाति पाँति पूछै नहिं कोई हरिकौ भजै सो हरि का होई। शृङ्गारकाल में धर्म का स्वरूप एक तो कृष्णभक्त कवियों की परम्परा का है दूसरा धर्म का राजदरबारी रूप है। इसी युग में घनानंद

की विरह-व्यथा हृदय की गहरी अनुभूति को व्यक्त करती है, उसमें प्रेमी की कातरता ही अधिक मुखरित है। शृङ्गारकाल के अन्य कवि जैसे बिहारी मतिराम केशव इत्यादि धर्म को संकुचित रूप में ही चित्रित कर सके। उसमें मानव की महानता की अनुभूति नहीं है। भारतेन्दु जी के साथ ही धर्म के प्राचीन स्वरूप का नवीन मनावतावादी विचार-धारा से संघर्ष होता है। इसके मूल में सामन्ती संस्कृति का हास स्थित है। द्विवेदी-युग में आकर तो मानव सेवा में ही ईश्वर सेवा का रूप व्यंजित हुआ। कवियों ने मानव सेवा द्वारा ईश्वर सेवा का स्वरूप हमारे सामने रखा और यह यहाँ तक हुआ कि रामावतार को मानव रूप में ही व्यक्त किया। मैथिलीशरण गुप्त 'साकेत' में मानव रूप में चित्रित राम को ईश्वर भी मानते हैं, देखिए उनका प्रश्न—

राम तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?

इसीलिए गुप्त जी के 'साकेत' महाकाव्य में राम ईश्वरत्व का संदेश देने नहीं आते, वरन् मानव को ईश्वरता प्राप्त कराने आए हैं—

भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया,
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ॥

‘पंचवटी’ नामक काव्य में लक्ष्मण मानव के महत्व को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी भी कह सकता हूँ

यह है उस युग की मानव सेवा की दृष्टि की मूल भावना। इस भावना का स्वरूप अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पौड्य, सनेही, रामनरेश त्रिपाठी तथा रामचरित उपाध्याय की कविता में बड़ी सुन्दरता से व्यक्त हुआ है। बंगला के महान् कवि टैगोर भी मानव-सेवा द्वारा ईश्वर सेवा का आदर्श लेकर चले थे और उनका प्रभाव द्विवेदी-युग के उक्त कवियों की कविताओं पर विशेष पड़ा था। कुछ उदाहरण—अयोध्यासिंह उपाध्याय ने ‘प्रिय प्रवास’ महाकाव्य में राधा के चरित के द्वारा मानव-सेवा में ईश्वर सेवा,

की अनुभूति कराई है। वियोगिनी राधा लोक-सेवा में ही प्रभु की भक्ति का उत्कृष्ट रूप मानती हैं और इस प्रकार वे मानवता में ही विश्वात्मा का रूप देखती हैं। जिस प्रकार 'साकेत' के राम मानव की सेवा हेतु अवतरित होते हैं उसी प्रकार हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' के कृष्ण लोक सेवा करते हुए दिखाए गए हैं। वे दीन, आर्त-जनों की सेवा करते हैं।

वस्तुतः द्विवेदी युग की परिस्थितियाँ ही इस भावना की मूल कारण हैं। राजनीतिक चेतना के कारण बड़ी सक्रियता प्रसरित हो रही थी, वीतरागात्मकता के प्रति विद्रोह की भावना पल्लवित हो रही थी और ठोस जीवन के निर्माण का प्रयत्न था। इसके लिए मानव-सेवा का आदर्श लेकर चलना स्वाभाविक ही था। यह बुद्धिवाद का युग था और अवतारवाद की स्थापना प्राचीन पौराणिक प्रणाली पर सम्भव नहीं थी। यही कारण है कि साकेत में राम सीता से कहते हैं—

मैं आया उनकें हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बल-हीन, दीन शापित हैं।

यह उस युग की मानवतावादी विचारधारा थी। यह धर्म की भौतिक रूप में प्रतिष्ठा थी। उस युग के महान् दार्शनिक कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी ईश्वर की प्राप्ति का स्थल श्रमजीवी वर्ग में बतलाया है। वह मन्दिर में आँख मूँदने पर नहीं दिखलाई देगा। दृष्टि खोलो और ईश्वर तुम्हारे सामने है। है। इसीलिए वे भक्त को मन्दिर में प्रार्थना के गीत गाने और माला के मनके फेरने के स्थान पर दीन श्रमिकों के बीच ईश्वर की खोज करने के लिए उत्साहित करते हैं।*

टैगोर की कविता में उस युग की विचार धारा स्पष्ट झलक रही है। पीड़ित एवं शोषित मानवता में ईश्वर के दर्शन करना उस युग का राजनीति से पोषित धर्म बना।

द्विवेदी युग की कविता की मानवतावादी विचारधारा का स्वरूप विवेचन

* गीताञ्जलि, कविता ११, अनुवादक काशीनाथ।

पर्याप्त हो चुका। यह नवयुग का नवदर्शन था जिसने मानव को मानव के रूप में स्थापित किया, और इसने स्वतन्त्रता की राजनीति को दृढ़ किया।

(३) द्विवेदी युगीन काव्य-धारा की तीसरी मुख्य प्रवृत्ति उसमें बुद्धिवाद की प्रमुखता है। नवीन वैज्ञानिक युग के अनुकूल ही इस विचार धारा का विकास हुआ। नवयुग के प्रारम्भ से ही विचार स्वातन्त्र्य का विकास हुआ। पाश्चात्य संस्कृति के संघर्षण एवं नवीन परिस्थितियों के परिवर्तन से भारतीय संस्कृति की परीक्षा वैज्ञानिक एवं तार्किक दृष्टि से होने लगी। इस बुद्धिवादी विचारधारा का द्विवेदी युग में बड़ा व्यापक प्रभाव दिखाई पड़ता है। द्विवेदी युग की कविता में भी यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। सबसे अधिक क्रांति धार्मिक क्षेत्र में हुई। पुरानी रूढ़ियों एवं परम्पराओं को वैज्ञानिक अथवा तार्किक दृष्टि से परखा गया। काव्य में भक्ति के दो प्रमुख रूप रामभक्ति और कृष्णभक्ति के नाम से प्रचलित थे। इन दोनों प्रकार की भक्ति के अवलम्बन राम और कृष्ण के चरित्र का आधुनिक परिस्थितियों एवं मानवतावादी विचार धारा के अनुकूल विवेचन हुआ। आज का मनुष्य प्राचीन रूढ़ियों एवं आस्थाओं के प्रति विद्रोह की भावना लेकर उत्पन्न हुआ है। उसका कारण है। वह यह कि प्राचीन मान्यताएँ विदेशी संस्कृति के प्रभाव से विकृत हो गईं, उनका दार्शनिक आधार भूल गया और इस प्रकार वह अनुभूति रहित कथनी बन गई। यही हमारे प्राचीन वेद, शास्त्र इत्यादि के पतन का मूल कारण बना। नवीन वैज्ञानिक एवं पाश्चात्य भौतिकवादी संस्कृति के आलोक में हमारी प्राचीन आध्यात्मिक एवं सूक्ष्म दार्शनिक मान्यताएँ बड़े विकृत रूप में व्यक्त हुईं। एक साहित्यिक कारण भी विचारणीय है। हिंदू पूजा पद्धति में प्रतीक उस परम शक्तिमान की छाया या संकेत मात्र ही नहीं करते वरन् उस शक्ति के रूप को स्वयं धारण कर सकते हैं। जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन भी प्रतीकों के द्वारा ही होता है। कालांतर में कल्पित रूप की एक भिन्न सत्ता हो गई और हम प्रतीक द्वारा प्रदर्शित तत्व का वास्तविक स्वरूप भूलकर उस प्रतीक के रूप को ही प्रधान मानने लगे। एक उदाहरण—गोपियों को श्री मद्भागवत में एक ओर तो आत्मा का प्रतीक माना है दूसरे एक पौराणिक कथा का भौतिक एवं स्थूल रूप। कालांतर में

यह स्थूल रूप अपने आप में सत्य एवं सजीव माना जाने लगा और उसका सूक्ष्म एवं मुख्य साध्य आत्मा का स्वरूप निरूपण भूल गया।

आधुनिक काल में पाश्चात्य शिक्षा के प्रादुर्भाव एवं विकास से हम अपनी प्राचीन संस्कृति के मूल में स्थित दार्शनिक आधार को भूलकर उसके स्थूल शरीर की आलोचना में प्रवृत्त हुए। यह थोथा विवाद मूल दार्शनिक आधार से बहुत दूर था। कुछ आधुनिक तत्व का भी समावेश हुआ और बुद्धिवाद का एक स्वरूप विकसित हुआ। इस काल के धार्मिक काव्य पर इसका प्रभाव अवतारवाद की भावना के विरुद्ध प्रतिफलित हुआ। द्विवेदी युग में राम और कृष्ण-चरित्र के गायक मुख्य दो कवि थे—मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय। इन दोनों के काव्यों में यह प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। बंगला के माईकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाथ वध' महाकाव्य में भी बुद्धिवादी विचारधारा बड़े प्रभावशाली रूप में व्यक्त हुई और 'मेघनाथ' काव्य का नायक बना। तर्क की कसौटी पर राम के चरित्र को कसा गया। राम में मानवीय दुर्बलताओं का दर्शन और रावण में मानवीय गुणों की योजना बुद्धिवाद की प्रबलता के कारण ही है। और सच तो यह है कि आज का प्राणी राम के शास्त्रानुमोदित स्वरूप को अपनी लघुता के कारण ठीक से पहचान नहीं सका। वह राम को दासस्थी राम में संकुचित कर चुका था साथ ही उस रूप के साथ वह घुल मिल नहीं पा रहा था। राम वह व्यापक तत्व है जो वसुधरा में ही नहीं वरन् आकाश और पाताल के विस्तार के परे भी प्रसरित है। सबसे सहज उपाय रामायण के दासस्थी राम-जो मानवीय अवतार में भी निष्कल निरंजन है, का पूर्ण मानवीय रूप प्रतिष्ठित करना था। पहले ईश्वर को मानव अवतार लेते दिखाया गया था अब मानव में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा हुई। 'साकेत' महाकाव्य को प्रारम्भ करते समय उसके मूल में स्थित भावना को कवि इस प्रश्न में रखता है—

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?

इस प्रकार नर में नारायणत्व की उद्भावना इस युग की बुद्धिवादिता का स्वरूप है। यह बुद्धिवाद राम के अवतार लेने का कारण प्राचीन शास्त्र विदित 'दुष्टानाम विनाशाय साधुनाम् रक्षणाय' नहीं मानता। राम का आगमन नर

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया ।

भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया ।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ॥

(४) द्विवेदी-युगीन काव्यधारा की चौथी प्रमुख प्रवृत्ति शृङ्गार को अश्लील मानकर छोड़ने की है । महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव से इस युग की काव्य-धारा नैतिकता के कठोर बन्धन में जकड़-सी गई है । भारतेन्दु युग में नवीन भावनाओं के समावेश के साथ ही प्राचीन शृङ्गार की धारा भी प्रवाहित हो रही थी किन्तु द्विवेदी-युग में रीतिकालीन शृङ्गार-रस की धारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, यहाँ तक कि शृङ्गाररस मात्र को अश्लील की संज्ञा दे दी गई । इस प्रतिक्रिया के कुछ अपवाद भी हैं, जिनका संकेत यथास्थान करेंगे । द्विवेदी-युग में शृङ्गार और प्रेम का जो डटकर विरोध हुआ उसके स्वरूप का विवेचन करने के लिए एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे । रामचरित उपाध्याय की एक कविता 'काम की करतूत' में शृङ्गार का स्वरूप देखिए—

अंग-विहीन अनंग ! यदपि है तो भी तू है अद्भुत वीर,
सह सकता है कौन त्रिलोकी में वे तेरे तीखे तीर ।
धन्यवाद है विधि को जिसने दिये तुझे फूलों के बाण,
यदि मिल जाता वञ्च तुझे तो फिर कोई क्यों पाता त्राण ?
रति के पति ! तू प्रेतों से भी बढ़कर है सन्देह नहीं,
जिसके सिर पर तू चढ़ता है उसको रुचता गेह नहीं ।
मरघट उसको नन्दन - वन है, सुखद आँधेरी रात उसे ।
कुश कण्टक हैं फूल - सेज से, उत्सव है बरसात उसे ॥

इस वर्णन में कितनी नीरसता एवं संवेदनहीनता है, यह सहृदय पाठक अच्छी तरह समझ सकते हैं। यह द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति का

भी अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार के नीरस एवं इतिवृत्तात्मक प्रेम और शृङ्गार के वर्णन इस युग में बहुतायत से मिलते हैं। साकेत में गुप्तजी ने शृङ्गार का वर्णन किया है उसमें कुछ हास्य एवं सरसता है फिर भी वह नैतिकता से मर्यादित है, उसमें शृङ्गारकालीन शृङ्गार की सरसता, विह्वलता एवं आवेग नहीं है न उसमें नायक नायिका भेद इत्यादि का विस्तार से वर्णन ही मिलता है।

हरिऔधजी के प्रसिद्ध महाकाव्य 'प्रियप्रवास' में शृङ्गार-बहिष्कार की प्रवृत्ति स्पष्ट ही है। उनकी राधा शृङ्गारकालीन राधा की भाँति शृङ्गार की प्रतिमूर्ति नहीं है। वह पूर्णतः मानवी है और मानवीय दुःखों के प्रति संवेदना प्रकट करती है। वह धीरे-धीरे प्रेम, सेवा तथा त्याग के पथ पर अग्रसर हो रही है। वह कृष्ण के लोक-सेवा पथ का अनुसरण करके तथा व्यक्तिगत दुःखों से ऊपर उठकर संसार के लिए आदर्श बन जाती है। वही राधा कृष्ण के नेत्रों में स्त्री जाति की रत्न है, विलास की सामग्री नहीं।

जो राधा वृष-भानु भूप तनया स्वर्गीय दिव्यांगन।

शोभा है ब्रज प्रान्त की, अवनी की, स्त्री जाति की, वंश की।

होगी हा ! वह भग्न मूर्ति अति ही मेरे वियागाब्धि में।

इसी प्रकार सूर के सर्वगुण सम्पन्न कृष्ण शृङ्गारकाल में कामी, चोर, रस-लम्पट, विषयी, पर-स्त्रीगामी, व्यभिचारी एवं त्याज्य बन गए हैं। हरिऔधजी ने ऐसे काम-लोलुप कृष्ण को महापुरुष के रूप में अङ्कित किया है। उन्हें शृङ्गार-रसराज एवं नायक के रूप में चित्रित नहीं किया वरन् एक लोक-सेवक के रूप में प्रदर्शित किया है। कृष्ण शृङ्गार का प्रतिनिधित्व नहीं करते। यहाँ आकर उनकी रासलीला भी समाप्त हो गई है, उसके स्थान पर कौमुदी महोत्सव का महात्म्य वर्णित है—

पुत्र - प्रिया सहित मंजुल राग गा गा

ला-ला स्वरूप उनका जन-नेत्र आगे।

ले-ले अनेक उर-बेधक चारु ताने,

की श्याम ने परम मुग्धकारी क्रियाएँ।

(५) द्विवेदी युग की कविता की पाँचवीं प्रमुख प्रवृत्ति उसकी इतिवृत्तात्म-

कता एवं गद्यात्मकता की है। द्विवेदीयुग में कविता की शैली सरलगद्य की शैली हो गई। कविता का उद्देश्य केवल उपयोगिता हो गया। इस युग के काव्य में उपयोगितावाद की झलक दिखाई पड़ती है। उपयोगितावाद का स्वरूप काव्य में इतिवृत्तात्मक वर्णनो में दिखाई पड़ता है। उसमें विशेष कल्पना प्राचुर्य एवं सरसता और माधुर्य नहीं है। देखिए ठाकुर गोपालशरणसिंह की विश्व-प्रेम एव मानवता की सेवा में मुक्ति की झलक दर्शाने वाली दो पंक्तियाँ—

जग की सेवा करना ही बस है सब सारों का सार ।

विश्वप्रेम के बन्धन ही में मुझको मिला मुक्ति का द्वार ॥

मातृभूमि की प्रशंसा वाले बहुत से पद कोरे वर्णन-प्रधान गद्य की कोटि की रचनाएँ हैं। द्विवेदी-युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता एवं गद्यात्मकता प्रसिद्ध है। कविगण 'सन्तोष', 'आशा', 'साहस' आदि विषयों पर कविता लिख-लिख कर लंबे-चौड़े उपदेश देते हैं जो पद्य-निबंध बनकर रह जाते हैं। इन कविताओं में कवियों की भावना विश्लेषणात्मक तथा आलोचनात्मक है। इनमें हृदयतत्व अथवा कल्पनातत्व का अभाव है। इस इतिवृत्त शैली ने इस युग की कविता को नीरस बना दिया। यही कारण है कि द्विवेदी-युग के अन्तिम वर्षों में कुछ सुन्दर मुक्तक गीतों की रचना हुई। 'साकेत' महाकाव्य में गुप्तजी ने कुछ सुन्दर गीतों की योजना कर उसे सरस बनाया। देखिए—

वेदने ! तू भी भली वनी ।

पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी ॥

+ + +

मेरे चपल यौवन बाल ।

अचल अंचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल ।

+ + +

लाना, लाना, सखि तूली ।

आँखों में छवि झूली ॥

+ + +

निरख सखी, ये खंजन आये,

फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये ।

+ + +

मेरी ही पृथ्वी का पानी,
ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी ।

+ + +

दानों और प्रेम पलता है ।
सखि, पतंग भी जलता है हा ! दीपक भी जलता है ॥

इस प्रकार अभिधात्मक द्विवेदी-युगीन कविता में धीरे-धीरे अनुभूति पक्ष का प्रवेश हो रहा था । उसमें इतनी बौद्धिकता आ गई कि वह बोझिल बन गई और इसीलिए इतिवृत्तात्मक कविता के प्रति धीरे-धीरे प्रतिक्रिया हुई । मुकुटधर पाण्डेय और लोचनप्रसाद पाण्डेय की कविताओं में हमें 'रहस्यात्मक खोज' एवं रहस्योन्मुख प्रेम के दर्शन होते हैं । सारी प्रकृति उस प्रिय की खोज में निमग्न है—

अन्धकार में दीप जलाकर किसकी खोज किया करते हो ।
तुम खद्योत लुप्त हो तब फिर तुम क्यों ऐसा दम भरते हो ॥
तम में ये नक्षत्र आज तक घूम रहे हैं उसके कारण ।
उसका पता कहाँ है किसको होगा यह रहस्य उद्घाटन ॥

मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं में भी रहस्योन्मुख भावना का संकेत है—

तेरे घर के द्वार बहुत है किससे होकर आऊँ मैं ।
सब द्वारों पर भाँड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं ॥

(६) द्विवेदी-युगीन कविता की छठी विशेषता स्वतन्त्र प्रकृति का चित्रण है । इस युग की कविता में सच्चा प्रकृति प्रेम प्रतिफलित हुआ है । इससे पहले परम्पराभक्त प्रकृति चित्रण था जिसका उद्देश्य शृङ्गार-भावना को उद्दीप्त करना था । भारतेन्दु-युग में भी प्रकृति चित्रण आलंकारिक ही अधिक है, उसमें सौन्दर्यानुभूति का अभाव है । जैसे भारतेन्दु की 'यमुना वर्णन' कविता । भारतेन्दु युग में ठाकुर जगमोहनसिंह की कविता में जन्मभूमि इत्यादि के सजीव चित्र भी प्रस्तुत हुए हैं । गाँव के निकट बहती 'अरपा' नदी का बड़ा सुन्दर वर्णन है । ठाकुर साहब का पहाड़ों का, दण्डकारण्य का वर्णन भी बड़ा

सजीव है। उसी युग के अन्तिम चरण के कवि बालमुकुन्द गुप्त को गाँवों की प्राकृतिक सुषमा के प्रति बड़ा प्रेम है। उनकी 'बसन्तोत्सव' कविता में प्रकृति का बड़ा सजीव चित्रण है। द्विवेदी-युग में कवियों को प्रकृति से सच्चा प्रेम है। श्रीधर पाठक प्रकृति-प्रेम में तन्मय होकर उसकी माधुरी का वर्णन करते हैं। कश्मीर का वर्णन देखिए—

प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति ।
पल-पल पलटति भेष छनिक छवि छिन छिन धारति ॥
बिहरति बिबिध बिलास भरी जोवन में मद सनि ।
ललकति किलकति पुलकति निरखति थिरकति बनठनि ॥

यह तो प्रकृति का संवेदनात्मक वर्णन है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के प्रकृतिवर्णन बड़े चित्रात्मक हैं। शुक्लजी ने ग्राम सुषमा का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। वे ग्राम सौन्दर्य के पुजारी हैं—

गया उसी देवल के पास से है ग्राम्य-पथ,
श्वेत धारियों में कई घास को विभक्त कर ।
थूहरों से सटे हुए पेड़ और झाड़ हरे,
गोरज से धूमले जो खड़े हैं किनारे पर ॥
उन्हें कई गायें पैर अगले चढ़ाये हुए,
कंठ को उठाय चुपचाप ही रही हैं चर ।
जा रही हैं घाट ओर ग्राम वनिताएँ कई
लौटती हैं कई एक घट औ कलश भर ॥

सत्यनारायण कविरत्न ने अपने 'भ्रमरदूत' में प्रकृति के अत्यन्त सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं, जिनमें बड़ी सरलता एवं कमनीयता है, तथा प्रकृति का आलम्बन-विभाव के रूप में चित्रण है—

अलबेली कहुँ बेलि द्रुमनि सों लिपटि सुहाई,
धोए-धोए पातन की अनुपम कमनाई ।
घातक शुक कोयल ललित, बोलत मधुर बोल ।

कूकि कूकि केकी कलित कुंजन करत कलोल ॥

निरखि घन की घटा ।

इस युग के महान कवि हरिऔधजी का प्रकृति चित्रण भी अपनी विशेषता रखता है । उन्होंने प्रकृति को पाँच रूपों में चित्रित किया है—आलम्बन रूप, उद्दीपन रूप, बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप, उपदेशात्मक रूप एवं आलङ्कारिक रूप इन पाँचों रूपों में आलम्बन एवं बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में उनके प्रकृति-चित्रण उत्कृष्ट हैं । प्रियप्रवास के प्रारम्भ में प्रकृति का आलम्बन-विभाव-रूप मिलता है—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला ।
तरु शिखर पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा ।

रामनरेश त्रिपाठी प्रकृति के सच्चे पुजारी हैं । उनके खंडकाव्यों में प्रकृति के सुन्दर चित्रण भरे पड़े हैं । 'पथिक' और 'स्वप्न' प्राकृतिक-सौंदर्य-चित्रण के लिए प्रसिद्ध हैं । कथा का प्रवाह प्रकृति के चित्रों से प्रवाहित हो रहा है । 'स्वप्न' में वेगवती पहाड़ी सरिता का यह चित्र देखिए—

पर्वत शिखरों का हिम गलकर जल बनकर नालों में आकर ।
छोटे बड़े चीकने अगणित शिला समूहों से टकराकर ।
गिरता उटता फेन बहाता करता अति कोलाहल हरहर ।
वीर वाहिनी की गति से वह बहता रहता निसवासर ॥

सागर की उमड़ती लहरों का वर्णन 'पथिक' खंडकाव्य में बड़ा संवेदनात्मक है—

रेणु स्वर्णकण-सदृश देखकर तट पर ललचाती हैं ।
बड़ी दूर से चलकर लहरे' मौज भरी आती हैं ।
चूम चूम निज देश-चरण यह नाच नाच गाती हैं ।
यह शोभा यह हर्ष कहीं आँखें जग में पाती हैं ।

इस युग की प्रकृति में रहस्य के संकेत भी मिलते हैं । 'स्वप्न' में एक स्थान पर सायंकाल के वर्णन में कवि रहस्यात्मक संकेत का प्रदर्शन करता है—

जग को आँखों से ओझल कर बरबस मेरी दृष्टि उठाकर ।
 झिलमिल करते हुए गगन में तारों के पथ पर पहुँचाकर ।
 करता है संकेत देखने को किसका सौन्दर्य मनोरम ।
 आकर के चुपचाप कहीं से यह संध्या का तम अति प्रियतम ॥

किन्तु द्विवेदी युग में प्रकृति के इन उत्कृष्ट संवेदनात्मक एवं चित्रात्मक वर्णनों के अतिरिक्त परम्पराभुक्त चित्र भी मिलते हैं जो उपदेश की प्रवृत्ति लिये होने के कारण अत्यन्त शुष्क एवं नीरस हैं और उनमें प्रकृति के सच्चे सौन्दर्य एवं मधुरिम साम्राज्य का अभाव है । इस प्रवृत्ति के दो उदाहरण यहाँ रखते हैं—

संध्या वर्णन

संध्या समीप रवि-रश्मि-निकर, स्थित हुआ शैल के शिखरो पर ।
 सुजनों का अस्त-समय भी नित, है निश्चय उच्च स्थान उचित ॥

—मैथिलीशरण गुप्त

बसन्त विकास

पल पल अंश घटे रजनी के बढ़े दिवस का मान ।
 यथा अविद्या सकुचे ज्यों-ज्यों त्यों-त्यों विकसे ज्ञान ॥
 दुम दलहीन हुए पुनि पाई हरयाली भरपूर ।
 देखो यों अवनति को उन्नति कर देती दूर ॥

—नाथूरामशंकर 'शर्मा'

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी-युग के प्रकृति चित्रण की अपनी विशेषताएँ हैं । उसमें परंपराभुक्त प्रकृति के सुन्दर चित्र प्रथम बार देखने को मिलते हैं । ये चित्रात्मक अधिक हैं और उनमें कवि अधिक रमें नहीं हैं । उन्होंने प्रकृति की अन्तरात्मा की झलक नहीं पाई है ।

(७) द्विवेदी युग की कविता की साँतवी विशेष प्रवृत्ति इसमें अंग्रेजी कविताओं के अनुवाद की है । द्विवेदी युग में 'सरस्वती' में अंग्रेजी कविताओं के अनुवाद छपा करते थे । आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया, और अंग्रेजी की प्रसिद्ध कविताओं के अनुवाद हुए । श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' का 'एकान्तवासी योगी,' ट्रैवलर' का 'आँत

पथिक' तथा 'डैजटैड विलेज' का 'ऊजड़ ग्राम' में पद्यानुवाद किया। डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्य पर आँग्ल प्रभाव' में द्विवेदी युग की इस प्रवृत्ति का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। वे लिखते हैं—“द्विवेदी युग के हिंदी काव्य में अंग्रेजी कविताओं के अनुवाद विशिष्ट स्थान रखते हैं। १९०३ से १९०८ के मध्यवर्ती काल में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास के लिये अथक परिश्रम किया था। ये अनुवाद अनवरत रूप से 'सरस्वती' में प्रकाशित होते रहे। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण अनुवादों की सूची इस तथ्य को और भी पुष्ट करने में सहायक होगी।

मास और वर्ष	अंग्रेजी कविता	हिन्दी अनुवाद
जून १९०३	बायरन की Fare thee Well'	'आशीर्वाद' गौरीदत्त वाजपेयी द्वारा।
फरवरी १९०४	जेम्स टेलर की 'My Mother	'मेरी मैया' जेनेन्द्रकिशोर द्वारा।
जून १९०४	बायरन की And art thou dead so young and fair	'तरुणी तू चल बसी अभी' गौरीदत्त वाजपेयी द्वारा।
अगस्त १९०४	लॉगफैलो की Psalm of life	'जीवन गीत' लक्ष्मीनारायण द्वारा।
फरवरी १९०५	शेक्सपीयर की Friendship	'मित्रता' कालीशंकर व्यास द्वारा।
जुलाई १९०५	सदे की Sleep	'निद्रा' सनातन शर्मा द्वारा
फरवरी १९०६	Peace at Home	'घर में शांति' रामरण विजयसिंह द्वारा।
अप्रैल १९०६	The cuckoo	'कोयल' जीतनसिंह
जुलाई १९०६	अर्नेस्ट जोन्स की The Poet and liberty	'कवि और स्वतन्त्रता' महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा

मार्च १६०८

ग्रे की Elegy

कामताप्रसाद गुरु द्वारा
'ग्रामीण गीत'¹

इसीप्रकार कुछ अन्य अङ्गरेजी कविताओं का हिन्दी में पद्यानुवाद हुआ । जैसे बायरन की Woman, पोप की Happiness of Retirement । कुछ अंग्रेजी कवियों की कविताओं का छायानुवाद भी किया गया गया । इनमें पोप, टेनीसन तथा लावेल मुख्य हैं ।

द्विवेदी-युग के काव्य में अन्य भारतीय भाषाओं के काव्यों का अनुवाद भी उल्लेखनीय है । बंगला तथा मराठी दो भारतीय भाषाएँ उल्लेखनीय हैं । बंगला से काव्य सामग्री ली गई तो मराठी से शैली । मैथिलीशरण गुप्त ने माईकेल मधुसूदन दत्त के दो काव्यों का—'मेघनाथ वध' और 'वीरोंगना' तथा नवीनचन्द्रसेन के 'पलासीर युद्ध' का बड़ा सरस अनुवाद प्रस्तुत किया । इस युग के कुछ कवियों जैसे सियारामशरण गुप्त, मुकुटधर पाँडे इत्यादि पर टेगोर की गीतांजलि तथा अन्य रहस्यात्मक कविताओं का प्रभाव भी दृष्टि-गोचर होता है ।

॥ (८) द्विवेदी युग की कविता की आठवीं विशेषता नवीन एवं साधारण विषयों को अपनाना है । शुक्लजी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है “बात यह थी कि खड़ीबोली का प्रचार बराबर बढ़ता दिखाई देता था और काव्य के प्रवाह के लिये कुछ नई-नई भूमियाँ भी दिखाई पड़ती थीं । देश-दशा, समाज-दशा, स्वदेश-प्रेम, आचरण संबंधी उपदेश आदि ही तक नई धारा की कविता न रहकर जीवन के कुछ और पक्षों की ओर भी बढ़ी, पर गहराई के साथ नहीं । त्याग वीरता, उदारता, सहिष्णुता इत्यादि के अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंग पद्यबद्ध हुए जिनके बीच-बीच में जन्म-भूमि-प्रेम, स्वजाति गौरव, आत्मसम्मान की व्यंजना करने वाले जोशीले भाषण रखे गए ।”² उदाहरण के लिए 'पराधीन प्रकृति' कविता में कामताप्रसाद गुरु ने मैना की स्वतन्त्रता की साधारण घटना में अंग्रेजों के खुशामदी भारतीयों पर व्यंग्योक्ति की है—

१—हिन्दी काव्य पर ऑग्ल प्रभाव पृ० ६०, ६१

२—पृ० ६२३

पराधीनता में रह कर यह, अपना सब कुछ भूल गई;
भाषा, भोजन, भेष, भाव, भावी—सब बातें हुईं नई।
अपनी जन्मभूमि का भी अब इसको कोई ध्यान नहीं।
वन के जो प्यारे साथी हैं उनकी भी पहचान नहीं ॥^१

मैथिलीशरण गुप्त ने 'विकट भट', 'तिलोत्तमा', 'वक संहार', 'सैरन्ध्री', 'द्वापर', 'रंग में भंग', 'किसान', 'विश्व वेदना', 'अर्जुन और विसर्जन', 'काबा और कर्बला' इत्यादि में इस प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय दिया है। कामता प्रसाद गुरु की 'दुर्गावती' (सरस्वती फरवरी १९१५) कविता भी इस प्रवृत्ति का बड़ा सुन्दर उदाहरण है। रामचरित उपाध्याय की 'देव सभा', 'देवदूत' इत्यादि कविताएँ भी इसी कोटि की हैं।

यहीं पर कवियों के नवीन एवं साधारण विषयों की ओर मुकाव का सकेत करना भी उचित है। उदाहरण के लिए गोपालशरणसिंह की 'उलहना' (सरस्वती, जनवरी १९१५), बद्रीनाथ भट्ट की 'मौत का डङ्का' (सरस्वती, फरवरी १९१५), 'समय का फेर' (सरस्वती, मार्च १९१५), गोपालशरणसिंह की 'हृदय की वेदना', ज्योतिषचन्द्र की 'रे मन' (सरस्वती, अप्रैल १९१५), रामचरित उपाध्याय की 'विधि-बिडम्बना' (सरस्वती, मई १९१५) मैथिली शरण गुप्त की 'सम्बन्ध' (सरस्वती, जून १९१५), अयोध्यासिंह उपाध्याय की 'भोर का उठना' इत्यादि।

(६) द्विवेदीयुग की कविता की नवीं प्रमुख प्रवृत्ति भाषा का परिवर्तन है। अब खड़ीबोली काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। प्रारम्भ में तो यह भाषा बड़ी अव्यवस्थित रही किन्तु महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रयत्न से इसकी पदावली का परिष्कार हुआ। इन्होंने सरस्वती में प्रकाशित होने वाली कविताओं की पदावली में अपने मन से ही बहुत से सुधार किए और कवियों को भी वृत्तियों की ओर से सचेत किया। उन्होंने मार्ग प्रदर्शन के लिए स्वयं खड़ी बोली की रचनाएँ भी कीं जिनका अनुकरण उस युग के कवियों ने किया। द्विवेदी जी ने भाषा तथा व्याकरण संबंधी वृत्तियों को ही दूर नहीं किया वरन्

उसको सामर्थ्यवान बनाने का भी प्रयत्न किया । द्विवेदी जी का दूसरा प्रभाव कविता में संस्कृत पदावली का प्रसार करना है । अयोध्यासिंह उपाध्यायजी ने तो 'रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेंदु विबांनना' में बिलकुल संस्कृत का रूप उतार दिया । द्विवेदी जी ने गद्य और पद्य का पद-विन्यास भी एक सा करने का आदर्श रखा—

सुगम्य रूपे, रसराशि रंजिते,
विचित्र-वर्णभरणे । कहाँ गई ?

इसका परिणाम यह हुआ कि द्विवेदी जी की भाषा बहुत गद्यमय होगई । किन्तु इसके साथ ही उपाध्यायजी का बोलचाल या ठेठ हिंदुस्तानी का रूप भी चल रहा था—

रख सका जो दूसरों का मन नहीं ।
तो रहेगा मान कैसे मन रखे ॥
हित-भरी तरकीब बतलाई बहुत
बेहतरी की बात बहुतेरी कही ।

इसके साथ ही उपाध्याय जी के 'प्रियप्रवास' की सरस पदावली में द्विवेदी समुदाय की संस्कृतगर्भित शैली की कर्कशता का भी अभाव है—

मदीय प्यारी अयि कुंज कोकिला ।
मुझे वता तू ढिग कूक क्या उठी ॥
विलोक मेरी चित-भ्रान्ति क्या बनी ।
विषादिता सकुंचिता निपीड़िता ।

यह तो थोड़ी सी खड़ी बोली की चर्चा हुई । द्विवेदी युग में ब्रजभाषा का भी काव्य रचना में प्रयोग हुआ । भगवानदीन की इस कविता में देखिए—

सुनि मुनि कौसिक ते' साप को हवाल सब ।
बाढ़ो चित्ता करुना की अजब उमंग है ॥

जगन्नाथदास रत्नाकर जितने भारतेन्दुयुग से सम्बन्धित हैं उतने ही द्विवेदी युग का ऐश्वर्य बढ़ाने वाले । उनके 'उद्धव शतक' में ब्रजभाषा का बड़ा उत्कृष्ट रूप मिलता है स्थानाभाव से हम उसका विवेचन यहाँ नहीं करेंगे ।

(१०) द्विवेदी-युग की कविता की छन्द की चर्चा भी आवश्यक है। द्विवेदी जी कविता में तुकबन्दी के विरोधी थे। वे छन्द के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी थी। उन्होंने कवियों को विविध प्रकार के छन्दों के प्रयोग के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने अतुकांत छन्द को भी महत्व दिया। संस्कृत वृत्तों का प्रयोग भी बहुतायत से हुआ और संस्कृत वृत्त के प्रयोगों ने अतुकांत या अनुप्रास को हटा दिया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा—“इस प्रकार (अतुकांत छन्द) जब संस्कृत, अँग्रेजी, बंगला में विद्यमान हैं तब कोई कारण नहीं कि हमारी भाषा में वे न लिखे जावें। अनुप्रास युक्त पादान्त सुनते-सुनते हमारे कान इस प्रकार की पंक्तियों के पक्षपाती हो गये हैं इसलिए अनुप्रासहीन रचना अच्छी नहीं लगती, बिना तुक वाली कविता के लिखने अथवा सुनने का अभ्यास होते ही वह अच्छी लगने लगेगी इसमें कोई संदेह नहीं।”^१ संस्कृत अतुकांत छन्दों की माधुरी अयोध्यासिंह उपाध्याय के ‘प्रिय प्रवास’ में है। देखिए—

कथन को अब न कछु शेष है
विनय यों करता दीन अब। इत्यादि।

इसी युग में ‘लावनी’ तथा उर्दू के छन्दों का प्रयोग करने वाले प्रमुख कवि ‘श्रीधर पाठक’ हैं। ब्रजभाषा के कवित्त-सवैया का भी खड़ीबोली में प्रयोग हुआ। इनमें सवैया खड़ीबोली में बहुत उपयुक्त सिद्ध हुआ। मैथिली-शरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, गोपालशरण सिंह, नाथूराम शंकर ‘प्रेमी’ ने हिंदी छन्दों का प्रयोग सफलता पूर्वक किया। मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, सियारामशरण गुप्त इत्यादि ने कुछ नवीन छन्दों की उद्भावना भी की। इस प्रकार द्विवेदी युग के प्रमुख कवियों में भगवानदीन तथा श्रीधर पाठक उर्दू के छन्द, अयोध्यासिंह उपाध्याय संस्कृत वृत्त, मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी छन्द और श्रीधर पाठक सियारामशरण गुप्त कुछ नए वृत्तों के सफलता पूर्वक प्रयोग के लिए प्रसिद्ध हैं। इस युग की ब्रजभाषा में रचित कविता में कवित्त, सवैया, लावनी इत्यादि का बहुतायत से प्रयोग हुआ। खड़ीबोली के

काव्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित होते ही इसके उपयुक्त छन्दों की समस्या उठ खड़ी हुई जिसका समाधान अतुकांत छन्द में मिला क्योंकि तुकांत सुनते-सुनते लोग घबड़ा गए थे और नवीन एवं मनोअभिलषित अर्थ को व्यक्त करने के लिए अतुकांत का सहारा लेना ही श्रेयस्कर प्रतीत हुआ ।

हम देखते हैं कि उपर्युक्त प्रमुख प्रवृत्तियों के विवेचन से द्विवेदी युग की हिन्दी कविता की वस्तुस्थिति स्पष्ट हो चुकी । हमने द्विवेदी-युग की कविता की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए सरस्वती में प्रकाशित सन् १९१८ की कविताओं का भी सहारा लिया है । इसका कारण यही है कि यद्यपि सन् १९१६ तक ही द्विवेदी युग का विस्तार है तथापि सन् १९१८ तक द्विवेदी युग की प्रवृत्तियों का प्रसार लक्षित होता है । हमने जगन्नाथदास रत्नाकर को द्विवेदी युग की विभूति माना है । रत्नाकर जी भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावाद युग तीनों कालों को देख चुके थे, इसलिए तीनों कालों में उनका विवेचन उपयुक्त है । एक बात और निवेदन करनी है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में रायदेवी प्रसाद पूर्ण, नाथूराम शंकर, सनेही जी, रामनरेश त्रिपाठी, भगवानदीन, रूपनारायण पोंडिय, सत्यनारायण कविरत्न इत्यादि कवियों को द्विवेदी मण्डल के बाहर की काव्य-भूमि में रखा है, हमने इनकी कविताओं के उद्धरण द्विवेदी युग की मुख्य प्रवृत्तियों का विवेचन करने के लिए दिये हैं । इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि ये सब उस युग की विभूति हैं । यद्यपि इन पर आचार्य द्विवेदी जी का विशेष प्रभाव नहीं है तथापि उस युग की कविता की प्रवृत्तियों का विवेचन करने में इनकी रचनाओं का आश्रय अनिवार्य है । अब हम छायावाद युग में हिन्दी कविता के विकास का अध्ययन करेंगे ।

छायावाद युग

हिन्दी साहित्य के इतिहास में उसके आधुनिककाल का तृतीय उत्थान छायावाद-युग के नाम से जाना जाता है । द्विवेदी-युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों का रूप-रंग परिवर्तित हुआ और उसके बाद जिन प्रमुख प्रवृत्तियों को प्राधान्य मिला वे छायावाद-युग की थीं । इन प्रमुख प्रवृत्तियों के विकास का संक्षिप्त

अध्ययन हम उस युग की विविध परिस्थितियों के बीच कर चुके हैं। द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता, स्थूल दृष्टि एवं साहित्यिक मान रूढ़िग्रस्त हो गए और नवीन सूक्ष्म सौन्दर्यदर्शिनी दृष्टि का विकास हुआ। इसी विशेषता को लक्ष्य करके कुछ आलोचकों ने छायावाद की परिभाषा करने का भी प्रयत्न किया है। किन्तु इतना ही नहीं छायावाद के प्रादुर्भाव में द्विवेदी-युग का जितना योग प्रतीत होता है उससे कहीं अधिक साहित्य की अखंडधारा का विकास है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर आधुनिककाल के पंचम उत्थान तक एक धारा प्रवाहित हो रही है जो साहित्य की संजीवन धारा है। इसीलिए छायावाद में शृंगारकाल की कुछ साहित्यिक प्रवृत्तियों का आधुनिक रूप है जैसे सौन्दर्य और प्रेम। यों तो सौन्दर्य साहित्य के मूल में सदैव से ही रहा है क्योंकि सौन्दर्य निरीक्षण से मनुष्य के हृदय को उस परमप्रेममय का रूप उद्भासित होता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि सौन्दर्यवादी प्रवृत्ति मनुष्य की चेतना की वह उठान है जिसमें वह उस परम सत्य को सर्वश्रेष्ठ रूप में देखना चाहता है। यही सौन्दर्यवादी दृष्टि छायावादी साहित्य में प्रधान एवं अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्रकट हुई। इसीलिए महाकवि जयशंकरप्रसाद ने छायावाद को सौन्दर्यवाद का पर्याय माना है।

किन्तु सौन्दर्य-बोध में एक दार्शनिक दृष्टिकोण भी रहता है। यह जानना कवि का काम है कि कौन सी वह दार्शनिक दृष्टि है जिससे किसी युग में सौंदर्य बोध जागा करता है। जैसे यदि प्रगतिवाद युग को लें तो उसमें सौन्दर्य बोध का दार्शनिक दृष्टिकोण सामाजिक यथार्थवाद है। इसी प्रकार छायावाद के प्रवर्तक कविवर जयशंकरप्रसाद के साहित्य में इस प्रवृत्ति का आविर्भाव आनन्दवाद की भूमिका पर हुआ है। यद्यपि आनन्दवाद का मूल शैवागम के आनन्दवाद में ही है किन्तु वह उसका अनुकरण मात्र न होकर बीसवीं शताब्दी के अनुकूल उसका निखरा हुआ रूप है। अस्तु। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी युग के बाद जो सौन्दर्यवाद का बोध हुआ उसके मूल में दार्शनिक दृष्टिकोणों के प्रकार के हैं, एक तो पश्चात्य और दूसरा भारतीय। पश्चात्य दृष्टिकोणों में रोमांटिसिज्म के आधार पर निर्मित हुआ है और भारतीय आनन्दवाद इत्यादि

के आधार पर। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भारतीय छायावाद सौन्दर्य की वह शाश्वत प्रवृत्ति है जो बीसवीं शताब्दी में प्रकट हुई है।

यों तो छायावाद की आलोचकों ने अनेक परिभाषाएँ दी हैं किन्तु स्थूल रूप में इन आलोचकों को दो श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है—एक तो वे आलोचक जो स्वयं छायावादी कवि थे और अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में उन्होंने 'छायावाद' की व्याख्या की, और दूसरी कोटि में अन्य सभी प्रकार के—छायावादी, प्रभावामिव्यंजक, प्रगतिवादी इत्यादि—आलोचक आते हैं। यहाँ हम इन दो श्रेणियों के विभिन्न प्रमुख आलोचकों की परिभाषाओं का संक्षिप्त विवेचन करेंगे। पहले कवि आलोचकों को लीजिए।

जयशङ्करप्रसाद—“कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिंदी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।” इसके बाद प्रसाद जी शृंगारकालीन परिस्थितियों में साहित्य की प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए नवीन विचारों की अभिव्यक्ति की चर्चा करते हैं “नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्यस्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिये नवीन शैली, नया वाक्यविन्यास आवश्यक था। हिंदी में नवीन शब्दों की भांगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिये प्रयुक्त होने लगी।... अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है। मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसे ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है।..... कभी-कभी स्वानुभाव संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिये सर्वनामादिकों का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है—‘वे आँखें कुछ कहती हैं।’ आगे प्रसाद जी इस छाया की संस्कृत-साहित्य की परम्परा की चर्चा करते हैं—“इस दुर्लभ छाया का संस्कृत काव्योत्कर्ष-काल में अधिक

महत्व था ।” निष्कर्ष रूप में प्रसाद जी का मत है कि यह छायावाद प्राचीन साहित्य में अपना स्थान बना चुका है । अपने छायावाद के विवेचन का श्रन्त करते हुए प्रसाद जी कहते हैं—“छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है । ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रकृति विधान तथा उपचारकता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं । अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भावसमर्पण करने वाली अभिव्यक्ति की छाया कान्तिमयी होती है ।”

विवेचन कुछ लम्बा हो गया है किंतु प्रसाद जी छायावाद के प्रवर्तक कवि हैं और छायावाद को भारतीय साहित्य परम्परा का विकास मानते हैं अतः उनका मत विशेष महत्वपूर्ण है । प्रसाद जी के अनुसार छायावाद सौन्दर्य की वह शाश्वत प्रवृत्ति है जो प्रथम महायुद्ध के बाद युगानुरूप भाषा, शैली एवं पदावली में अभिव्यक्त हुई है । इस प्रवृत्ति के उन्होंने तीन प्रमुख लक्षण माने हैं :

१—विचारों के मूल में कोई विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त ।

२—कल्पना प्रवणता ।

३—प्राचीन समर्थ प्रतीकों का पुनर्जागरण एवं निर्माण ।

इन तीन प्रमुख विशेषताओं के अतिरिक्त छायावाद की चार विशेषताएँ और हैं—

१—छायावाद में स्वानुभूति की विवृति रहती है ।

२—छायावाद में प्रकृति सुन्दरी का स्वतन्त्र एवं सजीव चित्रण मिलता है ।

३—छायावाद की शैली में ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता एवं उपचारकता है ।

४—छायावाद में युगानुरूप वेदना की प्रवृत्ति पाई जाती है ।

सौन्दर्य की अनुभूति के साथ ही करुणा की अनुभूति भी हुई । इसका एक कारण तो नवीन समाज में बहुरंगी आकाँक्षाएँ एवं अभिलाषाओं की असफलता है । राजनीतिक परतन्त्रता तथा सामाजिक दुरवस्था की परिस्थितियों से रीक्षित समाज में छायावादी कवि की उस आदर्शवादी धारणा को धक्का

लगता था जिसके द्वारा वह अपने चारों ओर सौन्दर्य के एक संसार की सृष्टि करना चाहता था । इससे उसने यह अनुभव किया कि सौन्दर्य क्षणभंगुर और नाशवान है और इस धारणा के आधार पर उसके काव्य में वेदना की भावना आई । छायावादी वेदना का आधार अभिव्यक्ति की अपूर्णता, प्रेम का असामंजस्य, कामनाओं की विफलता, सौंदर्य की अस्पष्टता, मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सम्बेदनशीलता, प्राकृतिक रहस्यमयता तथा भौतिक विकलता है ।

पन्तजी—छायावाद को पाश्चात्य साहित्य के रोमांटिसिज्म से प्रभावित मानते हैं । इसीलिए पन्त जी के काव्य का आदर्श अङ्गरेजी रोमांटिक प्रतिवर्तन के काव्यादर्श के अनुरूप था । इसीलिए उनमें वेदनानुभूति 'रोमांटिक शोक' के रूप में आई है । उनमें वर्डस्वर्थ की सी प्राकृतिक सुन्दरता के साथ प्राकृतिक करुणा और निराशा की भी झलक हैं । इस प्रकार प्रसाद जी छायावाद को पूर्णतया भारतीय परंपरा में मानते हैं तो पंत जी पाश्चात्य रोमांटिसिज्म की परम्परा में । पन्तजी ने अपने मत को पल्लव की भूमिका में रखा है ।

महादेवी—छायावाद के सम्बन्ध में तीसरा प्रसिद्ध मत रहस्यवादिनी कवयित्री महादेवी वर्मा का है । वे छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद को मानती हैं और प्रकृति को उसका साधन मानती हैं—“छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को प्रकृति अपने दुःख में उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी । छायावाद की प्रकृति घर, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओसबिन्दुओं का एक ही कारण एक ही मूल्य है ।” महादेवी जी ने छायावाद का विवेचन करते हुए प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध का प्रतिपादन विशेष तौर पर किया है । इसके साथ ही उन्होंने सूक्ष्म या अन्तर की सौन्दर्य वृत्ति के उद्घाटन पर भी जोर दिया है—“मनुष्य को बाह्य सौंदर्य की ओर से हटाकर उसे प्रकृति के साथ अपने अविच्छिन्न सम्बन्ध की स्मृति दिलाने का श्रेय भी छायावाद को ही है । स्मृति दिलाई इसीलिए कहती हूँ कि यह सम्बन्ध शाश्वत है, केवल हम लोग उसे भूल से गए थे । हममें से

प्रायः सभी बचपन में तितलियों के साथ दौड़े हैं, चिड़ियों के साथ गाते रहे हैं, कोई फूल खिला देखकर ऐसे प्रसन्न होते रहे हैं मानो वह हमारे हृदय में ही फूला हो। परन्तु बड़े होने पर हमारा जीवन ऐसे कृत्रिम बन्धनों में जकड़ जाता है कि उस ओर ध्यान देने की न तो इच्छा होती है न अवकाश मिलता है। वास्तव में प्रकृति में सान्त्वना और आनन्द देने की अपूर्व शक्ति होती है। तारों से जड़ी चाँदनी रात रोगी को नर्स से अधिक सुख दे सकती है, यदि वह उसकी भाषा समझने में समर्थ हो।”

इस प्रकार महादेवी जी के अनुसार छायावाद की कविता हमारा प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करा के हमारे हृदय में व्यापक भावानुभूति उत्पन्न करती है और हम समस्त विश्व के उपकरणों-जड़ चेतन पदार्थों-से एकात्म भाव-सम्बन्ध जोड़ लेते हैं और उस समय की परिपूर्णता एवं बेसुधपन में जो रचना होती है वह छायावाद के ही प्राण से अनुप्राणित है। इससे आगे महादेवी जी ने रहस्यवाद को छायावाद काव्य का दूसरा सोपान माना हैं—“परन्तु इस सम्बन्ध से मानव हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता, सीमा-तीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्य-मय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया। रहस्यवाद, नाम के अर्थ में छायावाद के समान नवीन न होने पर भी प्रयोग के अर्थ में विशेष प्राचीन नहीं।”

महादेवी जी ने छायावाद को स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न एवं सूक्ष्मगत सौन्दर्य के प्रति जागरूक बताया है—“छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।”

इस प्रकार महादेवी जी के मत से छायावाद की वृत्ति मुख्य विशेषताएँ हैं—

१—व्यक्तिगत अनुभव में प्राण संचार अर्थात् कवि व्यक्ति रूप में जो अनुभव करता है वह उसकी स्वच्छन्द अनुभूति होती है ।

२—प्रकृति के अनेक रूप में एक महाप्राण का अनुभव अर्थात् सर्वात्मवाद ।

३—ससीम और असीम का ऐसा सम्बन्ध जिसमें एक प्रकार के अलौकिक व्यक्तित्व का आरोप हो । यही दूसरे शब्दों में असीम के प्रति अनुराग-जन्य आत्मविसर्जन का भाव या रहस्यवाद है ।

४—स्थूल की प्रतिक्रिया एवं सूक्ष्म सौन्दर्य-सत्ता की ओर जागरूकता है ।

५—इसमें युगानुरूप वेदना की विवृति है पलायनवाद नहीं ।

६—इन भावनाओं की अभिव्यक्ति युगानुरूप प्रतीकों (मुख्यतः प्रकृति से लिये हुए) द्वारा गीतात्मक पद्धति में ही अच्छी प्रकार हो सकती है ।

छायावादी कवियों में कुछ कवि छायावाद में रहस्यवाद की प्रवृत्ति को प्रमुख मानकर उसमें अस्पष्टता की विशेषता निरूपित करते हैं । मुकुटधर पांडेय ऐसे ही छायावादी कवि हैं । वे लिखते हैं—“मानव स्वभाव की सृष्टि कुछ इस ढङ्ग से हुई है कि वह भौतिक वस्तुओं का बहिरंग विवरण प्राप्त करके ही सन्तुष्ट नहीं हो पाता, बल्कि उस पर उनके सौन्दर्य का एक विशेष प्रभाव पड़ता है और वह उसका गूढ़ रहस्य जानने के लिए व्याकुल हो उठता है । इस पिपासा की निवृत्ति वैज्ञानिक परीक्षाओं से नहीं होने की । वस्तुगत सौन्दर्य और उसके अन्तर्निहित रहस्य की प्रेरणायें ही कविता की जड़ हैं । यहीं कविता से ‘अव्यक्त’ का सर्व प्रथम सम्मिलन होता है जो कभी विच्छन्न नहीं होता । इस रहस्यपूर्ण सौन्दर्य-वर्णन से हमारे हृदय-सागर में जो भाव-तरंगें उठती हैं वे प्रायः कल्पना रूपी वायु के वेग से ही शात होती हैं, क्योंकि याथार्थ्य की साहाय्य प्राप्ति इस समय उन्हें असम्भव हो उठती है । यही कारण है कि कवितागत भाव प्रायः अस्पष्टता लिए होते हैं । इसी अस्पष्टता का दूसरा नाम छायावाद है ।”

इस प्रकार पांडेयजी के अनुसार छायावाद का मुख्य विषय रहस्यवाद की अनुभूति की अभिव्यंजना है । और यह अभिव्यंजना सीधी-सादी भाषा में नहीं हो सकती इसलिए कवि बड़ी कल्पना-प्रवणता से लाक्षणिक पदावली में इसकी

अभिव्यक्ति करता है। प्रतीकों से अभिव्यक्ति में एक अस्पष्टता आ जाती है यही अस्पष्टता छायावाद की पर्याय है। संक्षेप में उन्होंने अभिव्यक्ति के विशेष ढङ्ग को ही छायावाद माना है जिसकी मुख्य विषय-वस्तु रहस्यमयी भावनाएँ या अव्यक्त के साथ रागात्मक सम्बन्धों का निरूपण है।

छायावादी कवियों के दृष्टिकोण से हम परिचित हो चुके। अब हम हिन्दी साहित्य के कुछ प्रमुख सुधी आलोचकों के मतों का विवेचन करेंगे।

१. रामचन्द्र शुक्ल—“छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उनका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम का अनेक प्रकार से व्यंजन करता है। रहस्यवाद के अन्तर्भूत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने सन्तों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि-दशा में नाना रूपों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थी। इस रूपात्मक आभास को योरप में छाया (Phantasmata) कहते हैं। इसी से बंगाल में ब्रह्म-समाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे ‘छायावाद’ कहलाने लगे। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य क्षेत्र में आया और फिर रवीन्द्र बाबू की धूम मचने पर हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में भी प्रकट हुआ।” शुक्लजी छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में मानते हैं। यह प्रतीक शैली रहस्यवाद के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी व्यवहृत हुई। शुक्ल जी हिन्दी में छायावाद शब्द के अन्तर्गत रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं को (जिनमें प्रतीक शैली व्यवहृत होती थी) भी ले लेते हैं। इस प्रकार उनके शब्दों में ‘छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन। इस शैली के भीतर किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है।’

शुक्लजी के मत का निष्कर्ष इस प्रकार है—

१—‘छायावाद’ शब्द दो अर्थों में व्यवहृत है। एक रहस्यवाद के अर्थ

में दूसरा प्रतीक शैली के अर्थ में ।

२—यों तो प्रतीक शैली में केवल रहस्यवादी भावनाओं की ही अभिव्यक्ति होती रही है किन्तु हिन्दी साहित्य में प्रतीक शैली में अन्य विषयों की अभिव्यक्ति भी हुई, जो सब की सब छायावाद हैं । इस प्रकार छायावाद एक शैली विशेष है जिसमें प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का प्रयोग मिलता है ।

३—प्रथम अर्थ में केवल महादेवी छायावादी हैं ।

४—दूसरे अर्थ में अर्थात् प्रतीक-पद्धति या चित्रभाषा शैली की दृष्टि से पन्त, प्रसाद, निराला इत्यादि छायावादी कवि ठहरते हैं ।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी—“मानस अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या होनी चाहिये । इस व्याख्या में आए ‘सूक्ष्म’ और ‘व्यक्त’ इन अर्थ-गम्भीर शब्दों को हम अच्छी तरह समझ लें । यदि वह सौन्दर्य सूक्ष्म नहीं है, साकार होकर स्वतन्त्र क्रियाशील है और किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है तो हम उसे छायावाद के अन्तर्गत नहीं ले सकेंगे ।” वाजपेयीजी ने छायावादी आध्यात्मिकता को प्राचीन सन्तों एवं भक्तों की आध्यात्मिकता से इस अर्थ में भिन्न माना है कि छायावाद में इसकी मुख्य प्रेरणा मानवीय और सांस्कृतिक है, सन्त एवं भक्तों में धार्मिक । उनके शब्दों में “नई छायावादी काव्यधारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है ।” और इस प्रकार छायावादी आध्यात्मवाद में धार्मिक आध्यात्मवाद की सी रुढ़ियों का बन्धन नहीं है । इसके भावना-क्षेत्र की विशेषता इसकी स्वच्छन्दता है ! इसने नवीन मानवीय जीवन में आत्म-सौन्दर्य की भूलक देखी और इसलिए यह आधुनिक युग की स्वतन्त्र चिन्तनधारा है ।”

वाजपेयीजी के अनुसार छायावाद में—

१—सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं मानवीय सौन्दर्य दर्शन है ।

२—इसमें आधुनिक युगानुकूल आध्यात्मिकता की भावना है ।

३—इसमें मानव अथवा प्रकृति मुख्य विषय हैं किन्तु इनका सूक्ष्म-सौन्दर्य-

दर्शन ही प्रमुख है ।

५—सूक्ष्म को लेकर चलने के कारण इसमें गीति-तत्व का प्राधान्य हो गया और इसकी शैली मूलतः मुक्तक ही है । कथा या आख्यायिका को लेकर चलने वाली प्रबन्ध शैली का इसमें इसी सूक्ष्म दर्शन के कारण अभाव है ।

आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी—आचार्य द्विवेदीजी शुक्लजी के मत का खण्डन करते हैं और छायावाद शब्द का बँगला में प्रचलन एवं वहीं से हिन्दी साहित्य में ग्रहण होना भ्रामक मानते हैं । उनके अनुसार छायावाद शब्द इस कोटि में आने वाली रचनाओं की प्रकृति को प्रकट करने में एकदम असमर्थ है । इसीलिए इसका इतना उपहास किया गया और बाद में भी इसे दो अर्थों में ग्रहण किया गया—‘या तो चित्रभाषा शैली या प्रतीक पद्धति के रूप में या फिर रहस्यवाद के अर्थ में ।’ द्विवेदीजी ने छायावाद को इस-प्रकार समझाया है—

“(१) छायावाद नाम उन आधुनिक कविताओं के लिये बिना विचारे ही दे दिया गया था (क) जिनमें मानतावादी दृष्टि की प्रधानता थी, (ख) जो वक्तव्य विषय को कवि की व्यक्तिगत चिन्ता और अनुभूति के रँग में रँग कर अभिव्यक्त करती थीं, (ग) जिनमें मानवीय आचारों, क्रियायों, चेष्टाओं और विश्वासों के बदले हुए और बदलते हुए मूल्यों को अङ्गीकार करने की प्रवृत्ति थी, (घ) जिनमें छन्द, अलङ्कार, रस, ताल, तुक आदि सभी विषयों में गतानुगतिकता से बचने का प्रयत्न था, और (ङ) जिनमें शास्त्रीय रुढ़ियों के प्रति कोई आस्था नहीं दिखाई गई थी ;

(२) छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था ; यद्यपि उसमें नवीन शिक्षा के परिणाम होने के चिह्न स्पष्ट हैं तथापि वह केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं था ; कवियों की भीतरी व्याकुलता ने ही नवीन भाषा-शैली में अपने को अभिव्यक्त किया है ।

(३) सभी उत्कृष्ट योग्य कवियों में थोड़ी-बहुत आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की व्याकुलता भी थी । ”^१

१ हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ४६१-६२

इस प्रकार द्विवेदीजी छायावाद को—

(१) भारतीय परम्परा में मानते हैं । उसमें एक सांस्कृतिक चेतना है जो भारतीय परम्परा में है । उस पर पाश्चात्य प्रभाव भी है ।

(२) इसमें मानवतावादी विचारधारा, वैयक्तिक चिन्तन और अनुभूति का प्राधान्य तथा नवीन मानवीय जीवन के मूल्यों की स्वीकृति नवीन शैली में अभिव्यक्त हुई ।

(३) उनमें मानवीय एवं सांस्कृतिक कारणों से उत्पन्न आध्यात्मिक अनुभूति है ।

डा० रामविलास शर्मा—प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक डा० शर्मा छायावाद को मध्यवर्ग की चेतना मानते हैं । उन्होंने लिखा है—“छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती-साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह रहा है । परन्तु यह विद्रोह मध्यवर्ग के तत्वाधान में हुआ था । इसीलिए उनके साथ मध्यवर्गीय असंगति पराजय और पलायन की भावना भी जुड़ी हुई है ।” डा० शर्मा ने छायावाद में स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह एवं पलायनवाद और निराशावाद का प्राधान्य मानने वालों के लिए भी कुछ कहा है । वह इस प्रकार है—“क्या जीवन से पराङ्गमुख कोई भी व्यक्ति ऐसी सुन्दर पंक्तियाँ लिख सकता है ? क्या स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहने से उस ठोस जीवन आकांक्षा, मानवीय प्रेम, मानवीय सौन्दर्य की आकांक्षा की व्याख्या हो जाती है जो इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है—

कंटकों की सेज जिमकी आँसुओं का ताज,

सुभग ! हँस उठ, उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज,

बीती रजनी प्यारे जाग ।”

—महादेवी वर्मा

गङ्गाप्रसाद पांडेय—“छायावाद नाम से ही उसकी छायात्मकता स्पष्ट है । विश्व की किसी वस्तु में अज्ञात संप्राण छाया की झोंकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है ।” पांडेयजी छायावाद की विविध अवस्थाओं का निरूपण करते हुए लिखते हैं “छायावादी कवि का मुख्य

उद्देश्य असाधारण भाववेश को व्यक्त करना है। यह कोई नई बात नहीं है, प्रायः प्रत्येक युग में अनन्त प्रकृति के बीच विषमता को देखकर भावुक लोगों ने ऐसी अभिव्यक्ति की शरण ली है। छायावाद की प्रथम अवस्था में सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव अपने सन्देह में सजग रहता है। दूसरी अवस्था में मानसिक अशान्ति की आकुलता का आभास मिलता है, उस समय कलाकार कुछ खो सा जाता है। तीसरी अवस्था उसकी सफलता का सोपान है, क्योंकि यहाँ उसको अपने प्रेम का प्रकाश प्राप्त हो जाता है और वह संतोष के साथ अपने व्यापक रूप में अपने को लीन कर लेता है। यही छायावाद की चरम परिणिति है।”

इस प्रकार पांडेय जी छायावाद के मूल में—

(१) आध्यात्मिकता के दर्शन करते हैं। जिसकी अभिव्यक्ति प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों द्वारा ही संभव है।

(२) एक रहस्यमय संकेत है। यों तो प्रकृति में प्रेयसी का आरोप प्राचीन काल में भी होता था किन्तु अब प्रकृति के किसी अंश में व्यापक व्यक्तित्व या अज्ञात सत्ता का आरोप है, इसीलिए छायावाद से आगे की सीढ़ी रहस्यवाद है।

डा० नगेन्द्र छायावाद की मूल प्रेरणा कवि की कुंठित वासनाओं में ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं। डा० देवराज छायावाद को आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह मानते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य आलोचकों ने भी छायावाद की व्याख्या कुछ हेरफेर के साथ की है, किन्तु सभी का उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। प्रायः प्रमुख छायावादी कवि एवं आलोचकों को छायावाद के सम्बन्ध में व्यक्त की गई विचारधारा को यहाँ प्रस्तुत करने का ध्येय केवल इतना ही है कि पाठक के सम्मुख इस विशाल चेतना के महान् साहित्य के विवध पक्षों का उद्घाटन हो जाय। मैं यह नहीं कहता कि सभी व्याख्यायें एकांगी हैं; किन्तु प्रायः छायावाद की व्याख्या करते समय आलोचकों एवं कवियों ने एक ही पक्ष का उभार अधिक दिखाया है जैसे पन्त जी ने इसे रोमांटिक काव्य-धारा की परम्परा में बताकर इस पर पड़े हुए पाश्चात्य प्रभाव का दिग्दर्शन तो करा दिया किन्तु वे इसके समग्र रूप को प्रस्तुत न कर सके। जैसा वैयक्तिक दृष्टिकोण उन्होंने

काव्य में अपनाया वैसा ही उनकी स्वयं कृत समीक्षा में मिलता है। अस्तु।

कुछ आलोचकों ने छायावाद की मूल प्रेरणा को समझने का प्रयत्न किया है और साहित्य की अखंड धारा एवं विचारों की अखंड परम्परा के सिद्धान्त को झुँठलाने का प्रयत्न नहीं किया है। ऐसे छायावाद के सर्वाङ्गीण महत्व को समझने-समझाने वाले सुधी आलोचकों में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी और आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी छायावाद युग की विविध परिस्थितियों का विवेचन करके इस महान् साहित्य के मूल में आत्म विश्वास को पाते हैं और इस सांस्कृतिक पुनरुत्थान के महान् प्रयत्न का सामाजिक दर्शन प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने लिखा है—“हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि यह नवयुग भारत में अभूतपूर्व राजनीतिक और सामूहिक हलचल का युग था। गांधी जी के सामूहिक सत्याग्रह आन्दोलन ने एक अनोखे आत्म-विश्वास का वातावरण उपस्थित कर दिया था। नूतन प्रेरणाओं के फलस्वरूप देश में जो अनुपम जागृति फैली, उससे न केवल साहित्य में नवीन भावोद्रेक की धारा व्याप्त हुई, नई स्वच्छन्द शैलियों का भी विन्यास और विकास हुआ। इन नवीन रचनाओं में बाहरी ढाँचे की अवहेलना भी थी अलंकारों का आधिक्य नहीं था। नवीन स्वर लहरी का उल्लास था। प्राचीन शास्त्रीय मान्यताओं का तिरस्कार था। विषय नवीन भी थे और प्राचीन भी, किंतु भावना सबमें एक सी ही स्वच्छन्द और वेगवती थी, काव्य में संगीत का सम्बन्ध दृढ़तर हो गया।”* यही नहीं, उन्होंने छायावाद को किसी दार्शनिक आधार से रहित कोरी सौन्दर्यवादिता या कल्पना की ऊँची उड़ान समझने वाले एकांगी आलोचकों के मतों की सुन्दर समीक्षा की है। यह विषय बड़ा विस्तृत है और यहाँ हम केवल उद्धरणी न करके साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन प्रस्तुत करना चाहते हैं, इसलिए एक ही उदाहरण देकर इस आलोचना प्रत्यालोचना को समाप्त करेंगे। वाजपेयी जी लिखते हैं—“जिन लोगों ने छायावाद काव्य को कोरी सौंदर्यवादिता या स्वप्न के संसार की चीज बताया है, अथवा जिन्होंने उसे विवशकारी सामाजिक अथवा राजनीतिक

स्थिति की 'न्यूरोटिक' प्रतिक्रिया कहा है, वे भी छायावादी कवियों के 'व्यक्तित्व और प्रतिभा' के प्रशंसक हैं ।.....छायावादी काव्य में विद्रोह और स्वातन्त्र्य का, निष्ठा और सजगता का भी स्वर है, इसे विरोध करने वाले नहीं समझते ।"५ छायावाद के विरोधी स्वरों का, उसको हीन मानने वाले प्रमुख आधारों का इतना संकेत पर्याप्त है ।

उपरोक्त विवेचन से छायावाद की वादगत स्थिति स्पष्ट हो चुकी है । सुधी आलोचकों के विभिन्न मत हैं । संक्षेप में हम उन्हें इस प्रकार रख सकते हैं—

- १—रहस्यपूर्ण सौन्दर्य दर्शन की अभिव्यक्ति में जो अस्पष्टता उत्पन्न हो जाती है वही छायावाद है । —मुकुटधर पांडेय
- २—छायावाद और रहस्यवाद की मूलधाराएँ पृथक्-पृथक् हैं । —जयशङ्कर प्रसाद
- ३—छायावाद और रहस्यवाद पर्यायवाची शब्द हैं । —डा० रामकुमार वर्मा
- ४—छायावाद का दूसरा सोपान एवं प्रमुख प्रवृत्ति रहस्यवाद है । —महादेवी वर्मा
- ५—छायावाद भारतीय सांस्कृतिक चेतना का फल है जो युगानुरूपिणी है और अपनी अभिव्यक्ति में भी नवीनता रखती है । इसमें एक स्वतंत्र मानवीय और सांस्कृतिक प्रेरणा से उद्भूत आध्यात्मिकता की भावना है । —पं० नन्ददुलारे वाजपेयी
- ६—बदलते हुए जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति, विशाल सांस्कृतिक चेतना एवं आध्यात्मिकता की झलक को नवीन शैली में व्यक्त करने वाली कविता ही छायावाद है । —आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
- ७—छायावाद एक शाश्वत सौन्दर्यवाद की प्रवृत्ति है जो युगानुरूप भाषा शैली एवं विचारधारा को लेकर प्रकट हुई है । यह भारतीय परम्परा में उद्भूत हुई है । —जयशंकर प्रसाद
- ८—छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद है । प्रकृति में चेतनता का

आरोप, सूक्ष्म सौन्दर्य-सत्ता का उद्घाटन एवं असीम के प्रति अनु-
रागमय आत्म-विसर्जन की प्रवृत्तियों का गीतात्मक एवं नवीन शैली
में व्यक्त रूप छायावाद है । —महादेवी वर्मा

६—छायावाद के दो अर्थ रहस्यवाद एवं प्रतीकात्मक शैली हैं किंतु हिंदी
साहित्य में यह एक शैली विशेष है । इस शैली की मुख्य विशेष-
तायें ये हैं—लाक्षणिकता, प्रकृति के वस्तु व्यापारों पर मानुषी
वृत्तियों का आरोप, प्रभाव-रहस्य पर जोर और प्रेमगीतात्मक प्रवृत्ति ।

—पं० रामचन्द्र शुक्ल ।

१०—छायावाद पाश्चात्य साहित्य की रोमांटिक परम्परा में है । —पन्त ।

११—छायावाद कवियों की कुठित वासनाओं से उद्भूत है ।

—डा० नगेन्द्र

१२—छायावाद में आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधु-
निक लौकिक चेतना का विद्रोह है । —डा० देवराज

१३—मध्यवर्ग का थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती बन्धनों के प्रति
विद्रोह छायावाद में व्यक्त हुआ है । —डा० रामविलास शर्मा

इस प्रकार हमने 'आधुनिक काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ' नामक अध्याय
में एवं इससे भी पूर्व 'आधुनिक काल का सामान्य परिचय' नामक अध्याय में
छायावाद-युग को बनाने वाली विविध परिस्थितियों—राजनीतिक, सामाजिक,
आर्थिक और धार्मिक—का अध्ययन किया । यहाँ हमने छायावाद की वाद
के रूप में विविध व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं । अब हम छायावादी कविता की प्रमुख
प्रवृत्तियों का सोदाहरण विवेचन करेंगे ।

छायावादी कविता दो महायुद्धों के बीच की कविता है । एक महायुद्ध
की समाप्ति और दूसरे का प्रारम्भ, इस बीच में जिस कविता का सृजन हुआ
उसमें छायावादी रूप प्रमुख है । इस युग की कविता में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ
पाई जाती हैं—

(१) सौन्दर्य भावना—छायावादी कविता की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति उसकी
सौन्दर्यानुभूति की है । यों तो यह सौन्दर्य की शाश्वत प्रवृत्ति ही है किन्तु
इसका स्वरूप छायावाद में पूर्ववर्ती रूप से भिन्न है । शृंगारकालीन कविता में

सौंदर्य बोध अधिकांशतः बाह्य शरीरगत है, यों तो उन्मुक्त प्रेम के गायकों में आत्मिक सौन्दर्य अथवा सूक्ष्म सौन्दर्य के भी दर्शन हो जाते हैं। छायावाद में सूक्ष्म-सौन्दर्य-सत्ता की प्रतिष्ठा बड़े व्यापक रूप में हुई और सौन्दर्य-बोध की भूमि का विस्तार हुआ। इसे ही कुछ सुधी लोग रीति-परम्परा के स्थूल सौंदर्य बोध के विरुद्ध प्रतिक्रिया के नाम से पुकारते हैं। सौंदर्य भूमि का विस्तार हुआ तो एक ओर तो प्रकृति के नाना रूपों में सौन्दर्य-दर्शन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई दूसरी ओर आत्मिक सौंदर्य बोध को अधिक महत्व मिला। द्विवेदी-युग में शृङ्गारकालीन सौन्दर्य बोध में *शृङ्गार* की झलक पाकर एवं बुद्धिवादी विचार धारा के कारण हृदयतत्त्व का अभाव हो गया था। इस प्रकार उस काव्य में नैतिक भावना कहीं भी शिथिल नहीं हुई। इस इतिवृत्तात्मकता और जड़ता में श्रीधर पाठक आदि का काव्य ही कुछ प्रकृति की हरियाली प्रकट करता है। परन्तु उसमें भी प्रेम भावना का अभाव है, सूक्ष्म सौंदर्य दर्शन नहीं है। इस अर्थ में भी सुधी लोग छायावाद को द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया मानते हैं किन्तु यह भ्रम है। क्योंकि साहित्य मूलतः सौन्दर्य का सृजन है और जब साहित्य की अखंड परम्परा है तो सौन्दर्य की प्रवृत्ति भी शाश्वत है। हाँ, इसका रूप बदलता एवं विकसित होता रहता है। छायावाद में अमूर्त अशरीरी सौन्दर्य प्रियता को प्राधान्य मिला।

मानव के आन्तरिक सौन्दर्य का उद्घाटन छायावाद में प्रकृति के माध्यम से हुआ अतः प्राकृतिक सौन्दर्य को विशेष महत्व मिला। यहाँ महादेवी जी के ये शब्द स्मरणीय हैं—“छायावाद की प्रकृति, घर कूप आदि में भरे जल की एक रूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओसबिंदुओं का एक ही कारण एक ही मूल्य है।” छायावादी कवि ने प्रकृति के नाना रूप रंगों में अपनी अन्तरात्मा को खोज निकाला है।

छायावादी प्रकृति-सौंदर्य-चित्रण की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। सर्वप्रथम तो इसमें चेतनता का आरोप है। पन्त जी ने कहा है “प्रकृति को मैंने अपने से अलग, सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है—

उस फैली हरियाली में

कौन अकेली खेल रही, मा,
वह अपनी वयवाली में—”^१

प्रसाद में हमें प्राकृतिक पदार्थों के मानवीकरण के अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं जैसे उषा का कामायनी में चित्रण ^२ लहर में एक कविता में वे उषा को अम्बर के पनघट पर तारों के घट को डुबाती हुई रूपसी के रूप में देखते हैं—

बीती विभावरी जागरी ।

अम्बर पनघट में डुबो रही

तारा घट उषा नागरी ।

निराला ने भी अपनी ‘सन्ध्या-सुन्दरी’ कविता में संध्या का मेघमय आकास से उतरती हुई परी के रूप में देखा है—

दिवसावसान का समय

मेघमय आसमान से उतर रही है

वह संध्या सुन्दरी परी सी

धीरे धीरे धीरे ।

महादेवी ने भी प्रकृति पर चेतनता का आरोप किया है । वह बसन्त रजनी को क्षितिज से बुला रही हैं—

तारकमय नव वेणी बन्धन

शीश फूल कर शश का नूतन

रश्मि वलय सित घन अवगुंठन...

धीरे धीरे उतर क्षितिज से आ बसंत रजनी ।

रामकुमार वर्मा में भी प्रकृति का मानवीकरण है—

वह ज्योत्स्ना तो देखो नभ की बरसी हुई उमंग ।

छायावादी प्रकृति-सौन्दर्य की दूसरी विशेषता विस्मय की प्रवृत्ति है । कवि उसमें चेतनता का आरोप करता है तो उसे प्रकृति में बड़ी संप्राणता लगती है, वह विस्मय से भर उठता है । एक कारण और भी है, वह अपने अज्ञात

१—आधुनिक कवि—पर्यालोचन पृ० ३

२—कामायनी : आशा सर्ग, प्रथम छन्द

प्रियतम का संकेत भी पाता है इसलिये उसका प्रकृति से बड़ा स्नेह हो जाता है । प्रसादजी का मनोहर भरना का चित्रण देखिए—

मनोहर भरना
कठिन गिरि कहों विदारित करना ।
वात कुछ छिपी हुई है गहरी
मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी ।

पन्त को भी प्रकृति के विविध रूपों में बड़ा विस्मय होता है—

देखता हूँ, जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये भरभर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को । —‘आँसू’ से

नरेन्द्र कवि का यह भाव भी ऐसा ही आह्लाद प्रकट करता है—

मैं भूल गया निज सीमायें जिससे
वह छवि मिल गई मुझे ।

छायावादी-प्रकृति-सौन्दर्य की तीसरी विशेषता यह है कि कवि मानव-जीवन की समस्त भावनाओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से करता है । महादेवीजी के काव्य में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक है । ‘सांध्य-गीत’ की प्रथम कविता में वे अपने जीवन की तुलना सांध्यगगन से करती हैं—

प्रिय सान्ध्य गगन, मेरा जीवन ।

यह क्षितिज बना धुँधला विराग,

नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,

छाया - सी काया वीतराग— इत्यादि

छायावादी प्रकृति-सौन्दर्य की चौथी विशेषता उसमें करुणा के स्वर हैं । कवि जब प्रकृति में फूल खिले देखता है तो एक कुतूहल-मिश्रित वेदना उमड़ आती है कि यह मेरे हृदय में क्यों नहीं खिला है । महादेवी में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है—

जग पतझर का नीरव रसाल,
 पहने हिमजल की अश्रुमाल,
 मैं पिक बन गाती डाल - डाल
 सुन फूल - फूल उठते पल - पल,
 सुख दुःख मंजरियों के अंकुर ।

यों तो जब प्रकृति से तादात्म्य है तब वह मनुष्य को अपने दुःख में उदास एवं सुख में उल्लसित जान पड़ती है । यह तादात्म्य यहाँ तक बढ़ जाता है कि प्रकृति और अपने हृदय की वृत्तियों में कवि एकरसता स्थापित करते हुए कह उठता है—

मेरा पावस ऋतु - सा जीवन,
 मानस - सा उमड़ा अपार मन;
 गहरे धूँधले, धुले, साँवरे,
 मेघों - से भरे मेरे नयन ।

इत्यादि

छायावादी सौन्दर्य की प्रवृत्ति का दूसरा रूप नारी सौन्दर्य में देखने को मिलता है । छायावादी कवि ने नारी के सूक्ष्म-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में की है । कहीं तो वह प्रकृति के माध्यम से उसका शारीरिक सौन्दर्य चित्रण करता है, किन्तु इसमें कुतूहल का समावेश करके नवीनता ला देता है—

शशि मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाए
 जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आए ।

इन कवियों ने प्रकृति को स्त्री रूप में देखा है। कवि की प्रेयसी पार्थिवता का भूषण नहीं बरन् प्रकृति की दुलारी, अपने नैसर्गिक रूप की रानी और आत्मा को प्रकाशित करने वाली है—

अरुण अधरों का पल्लव प्रात मोतियों सा हिलता हिम हास
 इन्द्रधनुषी पट से ढक गात बाल विद्युत् का पावस - लास;
 हृदय में खिल आता तत्काल अधखिले अंगों का मधुमास,
 तुम्हारी छवि का कर अनुमान

प्रिये प्राणों की प्राण ।

—पन्त

छायावादी कवियों ने नारी के अशरीरी सौन्दर्य को विशेष महत्व दिया ।

इसीलिए इस सूक्ष्म सौन्दर्य-दर्शन से नारी का सौन्दर्य प्रकृति के रमणीक दृश्यों में मिलता है—

प्रिये कलि - कुसुम - कुसुम में आज
मधुरिमा, मधु, सुषमा, सुविकास,
तुम्हारी रोम - रोम छवि व्याज,
छा गया मधुवन में मधुमास ॥

—पन्त

नारी सौन्दर्य के अतिरिक्त पुरुष सौन्दर्य का चित्रण भी छायावादी कवियों की विशेषता है। प्रसाद जी ने कामायनी में मनु का चित्रण किया है—

अवयव की दृढ़ माँस पेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार।
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार।

यह तो स्थूल सौन्दर्य दर्शन हुआ, इसके आगे सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण है—

चिन्ता कातर बदन हो रहा
पौरुष जिसमें ओत - प्रोत,
उधर उपेक्षामय यौवन का
बहता भीतर मधुमय स्रोत

पुरुष सौन्दर्य ही नहीं शिशु सौन्दर्य का निरीक्षण भी मिलता है। कामायनी में मनु का पुत्र—

माँ—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सुनी

+ + +

लुटरी खुली अलक, रज धूसर बाहें आकर लिपट गईं,
पन्तजी में भी शैशव के प्रति बहुत आकर्षण है—

“शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु सरल कमनीय।”

इस प्रकार छायावादी सूक्ष्म सौन्दर्य-दर्शन में प्रकृति के आलम्बन रूप में

संश्लिष्ट चित्र, नारी के व्यापक एवं अशरीरी सौन्दर्य की कल्पना, पुरुष सौन्दर्य की ओर रुझान एवं शिशु सौन्दर्य का आदर्श है ।

(२) प्रेम भावना—छायावादी काव्य में प्रेम भावना का विकास विविध रूपों—प्रकृति प्रेम, नारी प्रेम, मानव प्रेम, शिशु प्रेम (मातृ प्रेम), अज्ञात चिरन्तन प्रिय के प्रति प्रेम इत्यादि—में प्रकट हुआ है । प्रकृति प्रेम का सुन्दर उदाहरण पन्त में है—

छोड़ दुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले ! तेरे बाल जाल में
कैसे उलझा दूँ लोचन ?
भूल अभीसे इस जग को

नारी प्रेम की मूर्ति है, उसके हृदय में प्रेम की तरंगें उठा करती हैं किन्तु इसका पूर्ण उल्लसित रूप तो प्रिय के साथ रहने पर ही होता है । छायावादी काव्य का यह प्रेम वर्णन बड़ा उत्कृष्ट है । इसमें वासना का अभाव है और हृदय की कोमल वृत्तियों का उद्घाटन है, और वह भी प्रकृति के माध्यम से, अतः हृदय को उच्च भावनाओं से भरने वाला है—

बे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ।

जब सावन घन सघन बरसते इन आँखों की छाया भर थे ॥

सुरधनु रंजित नव जलधर से भरे, क्षितिज व्यापी अम्बर से ;

मिले चूमते जब सरिता के हरित कूल युग मधुर अधर थे ॥

प्रिय और प्रेमी की इन प्रेम-क्रीड़ाओं में हृदय की उदात्त वृत्ति की झलक है । द्विवेदी-युग में तो प्रेम-भावना शृङ्गारकालीन वासनामूलक प्रेम के विरोध के कारण बड़ी शुष्क होगई थी, छायावाद में उसे प्रकृति के मधुर रस से सींच कर हरा-भरा कर दिया । वियोग के चित्रणों में भी ऊहात्मक पद्धति के स्थान पर विरह की मार्मिकता की अनुभूति ही अधिक है । कहीं-कहीं विरह में बड़ी गम्भीरता एवं आध्यात्मिकता आ गई है । और क्यों न हो, छायावादी कवियों का प्रेम भी तो उठकर उस अज्ञात के प्रति अनुरागमय आत्म-समर्पण में बदल

जाता है। इस विरह वर्णन में संयोग के सुख की करुण अनुभूति की व्यंजना है—

यह तीव्र हृदय की मदिरा
जी भर कर - छक कर मेरी
अब लाल आँखें दिखलाकर
मुझको ही तुमने फेरी।

—आंस (प्रसाद)

छायावादी कवियों में आध्यात्मिक प्रेम भावना अज्ञात प्रिय के प्रति है। इनमें रहस्योन्मुख प्रेम है। अपने अज्ञात प्रिय का आभास कवि को सर्वत्र मिलता है—

भरा नयनों ने मन में रूप, किसी छलिया का अमल अनूप,
जल - थल मारुत - व्योम में, जो छाया है सब ओर।

—प्रसाद

महादेवी में इस प्रेम भावना का बहुत अधिक विस्तार हुआ है। एक उदाहरण ही पर्याप्त है—

मैं कण कण में ढाल रही हूँ आंसू के मिस प्यार किसी का।
मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का॥

—दीपशिखा

मातृप्रेम का भी एक उदाहरण पर्याप्त होगा। कामायनी की श्रद्धा की पुत्र प्रेम की कल्पना—

सूना न रहेगा यह मेरा
लघु विश्व कभी जब रहोगे न
मैं उसके लिये बिछाऊँगी
फूलों के रस का मृदुल फेन।

आगे चलकर इस मातृ प्रेम भावना का साकार रूप स्वप्न सर्ग में है—

लुटरी खुली अलक, रज धूसर बाहें आकर लिपट गई,
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी।

इसी प्रकार मानव प्रेम का चित्रण पन्त में देखिए—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल-सुषमा से,
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम ।

३) मानवतावादी दृष्टिकोण—छायावादी कवियों में रवीन्द्र और अरविन्द की मानवतावादी दृष्टि का विकास हुआ है। यह मानवतावाद कई रूपों में व्यक्त हुआ है। जैसे नारी के प्रति उच्च भावना। शृङ्गारकाल में नारी का रूप विकृत हो चुका था, वह विलास की प्रसाधन हो गई थी। छायावादी कवि ने एक नवीन मानवतावादी दृष्टि से नारी का विचार किया—

नष्ट हो गई उसकी आत्मा,
त्वचा रह गई पावन,
युग-युग से अवगुणित गृहिणी
सहती पशु के बन्धन ।
खोलो हे मेखला युगों की
कटि प्रदेश से, तन से
अमर प्रेम हो उसका बन्धन
वह पवित्र हो मन से ।

इस प्रकार नारी के शरीर के महत्व के ऊपर इन कवियों ने उसके मन की पवित्रता को महत्व प्रदान किया। अब कवियों की दृष्टि मानव को मानव के रूप में देखकर शोषितों के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने लगी है। निराला में शोषित वर्ग के प्रति गहरी सम्बेदना है। कृषकों की दशा देखकर वे 'बादल राग' गा उठते हैं—

तुम्हें बुलाता कृषक अधीर...
चूस लिया है उसका सार
हाड़ मौस ही है आधार ।

इसी प्रकार उनकी 'भिक्षुक', 'विधवा', 'इलाहाबाद के पथ पर' इत्यादि कविताओं में मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। पन्त ने भी

मानव-सौन्दर्य-निरीक्षण किया है । 5

(४) जीवन के बदलते हुए मूल्यों की अभिव्यक्ति—छायावादी कवियों में प्राचीन जीवन के मानों के प्रति विद्रोह की भावना है। छायावाद में थोड़ी नैतिकता, रूढ़ि एवं परम्परा और सामन्ती संस्कृति के मानदण्डों का घोर विरोध हुआ। इन्होंने आत्म कल्याण और विश्व मंगल की भावना को प्रश्रय दिया और इसीलिए प्राचीन जीवन के मूल्यों की कमी इनके दृष्टिपथ में आई। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में इन कवियों में “मानवीय आचारों, क्रियाओं, चेष्टाओं और विश्वासों के बदले हुए और बदलते हुए मूल्य को अंगीकार करने की प्रवृत्ति थी।” और यही तो इनकी विद्रोह भावना है। छायावादी कविता में सौन्दर्य, प्रेम, करुणा, मानवतावाद, नारी उत्थान इत्यादि की जो भावनाएँ व्यक्त हुई हैं; जन्म, पद सम्पत्ति आदि से उत्पन्न भेद भाव को मिटाकर व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप में देखने का जो प्रयत्न हुआ है—वह जीवन के बदले हुए और बदलते हुए मूल्यों की अभिव्यक्ति करता है। क्या राजनीतिक आदर्श क्या सामाजिक मान्यताएँ एवं मर्यादाएँ सभी क्षेत्रों में छायावादी कवि विचार स्वातन्त्र्य को प्रधानता देता है। प्रेम के विषय में वह स्वच्छन्दतावादी है और धार्मिक बन्धनों के प्रति अवज्ञावादी। किन्तु यह चेतना मुख्यरूप से मध्यवर्ग के साथ जुड़ी हुई है। श्री शम्भूनाथसिंह ने मध्यवर्गी चेतना का परिवर्तन छायावादी कविता में निम्न लिखित रूपों में बताया है—

१—सामन्ती और पुनरावर्तनवादी प्रवृत्तियों का लोप।

२—व्यक्तिवाद और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के आदर्श की स्थापना।

३—बुद्धि के विरुद्ध हृदय का और स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह।

४—यथार्थ के बन्धनों से ऊबकर प्रकृति, रहस्य, कल्पना, और कान्ति के स्वप्नलोकों में पलायन।

५—हासोन्मुख पूँजीवादी प्रवृत्तियों—कलावाद, निराशावाद, अहंवाद का विकास।

६—सामाजिक यथार्थवाद या प्रगतिवाद का प्रारम्भ।”

5 मानव कविता— (आधुनिक कवि) पृ० ६६

इसी प्रसङ्ग में शम्भूनाथ जी आगे लिखते हैं “इस युग में धर्म का प्रभुत्व बहुत कुछ हट गया और उसकी जगह आध्यात्मिकता और दार्शनिकता ने ले ली। छायावादी कवियों ने प्राचीन भारतीय दर्शन और भक्तिकालीन काव्य से प्रभाव ग्रहण किया और साथ ही रीतिकालीन काव्य-परम्परा का खुले रूप में विरोध किया। इस तरह इस युग में सामन्ती और दरबारी संस्कृति के बन्धनों में कवियों ने मुक्ति प्राप्त की।*” यह विद्रोह काव्य-विषय और भाषा-शैली दोनों में ही दिखाई पड़ता है। आज के युग में जीवन के मूल्य बदल रहे हैं और इस नई व्यवस्था में सदाचार और धर्म की महत्ता जन-हित पर निर्भर होगी—

धर्म, नीति ओ सदाचार का मूल्याङ्कन है जनहित।

सत्य नहीं वह जनता से जो नहीं प्राण सम्बन्धित॥

—पन्त

छायावादी कविता की इस प्रवृत्ति में हमें सांस्कृतिक चेतना के दर्शन होते हैं। यद्यपि इसमें नवीन शिक्षा का प्रभाव स्पष्ट है तथापि यह केवल पाश्चात्य विचार धारा का प्रभाव नहीं है। इसके मूल में पूर्ववर्ती युग की परिस्थितियों के प्रति विद्रोह की भावना है अतः यह भारतीय परम्परा में उद्भूत सांस्कृतिक चेतना है।

(५) रहस्य-भावना—कुछ सुधी आलोचक रहस्यवाद को छायावाद का प्राण मानते हैं। महादेवी जी के अनुसार विश्व के अथवा प्रकृति के सभी उपकरणों में चेतना का आरोप छायावाद की पहली सीढ़ी है तो किसी असीम के प्रति अनुराग जनित आत्म विसर्जन का भाव अथवा रहस्यवाद छायावाद की दूसरी सीढ़ी है महादेवी वर्मा और प्रसादजी के काव्य में इस रहस्य भावना का सुन्दर परिपाक हुआ है। पन्त में प्रकृति के प्रति रहस्य भावना है, जिसे बहुतों ने प्राकृतिक रहस्यवाद की संज्ञा दी है। रामचन्द्र शुक्ल भी छायावाद का एक अर्थ रहस्यवाद ही करते हैं किन्तु वे इसे सन्त पुराने सन्तों या साधकों की उस वाणी का अनुकरण मानते हैं जिसमें तुरियावस्था या समाधि-दशा में नाना रूपों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का विषय रहता था।

५० नन्ददुलारे वाजपेयी छायावादी कविता की इस आध्यात्मिकता को परम्परागत आध्यात्मिक चिन्तन के नियमों एवं प्रेरणाओं से भिन्न एक स्वतन्त्र चिन्तन धारा मानते हैं। इसका मुख्य कारण वह यही देते हैं कि छायावादी काव्य की आध्यात्मिकता प्राचीन काव्य के “आध्यात्मवादी सीमा-निर्देशों से आबद्ध नहीं है, वह भावना के क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करती।” इसका कारण वाजपेयी जी यह देते हैं कि “छायावाद मानव जीवन सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है।” इस भावना का विकास महादेवी की कविता में अच्छी तरह देखा जा सकता है—

मधुर मधुर मेरे दीपक जल ।

युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल,

प्रियतम का पथ आलोकित कर ॥

सौरभ फैला विपुल धूप बन,

मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन;

दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित

तरे जीवन का अणु गल गल ।

इसमें आध्यात्मिकता की भावना मानव-सेवा की भूमिका पर पल्लवित हुई है। इसी प्रकार प्रकृति में आध्यात्मिकता की भावना हम पहले देख चुके हैं। और देखिए—

महानील इस परम व्योम में,

अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,

ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण

किसका करते थे सन्धान !

छिप जाते हैं और निकलते

आकर्षण में खिंचे हुए,

तृण वीरुध लहलहे हो रहे

किसके रस से खिंचे हुए ?

किन्तु इस आध्यात्मिकता की भावना में भक्ति साहित्य के केन्द्र बिन्दु ‘लीला’ तत्व का विकास भी हुआ है। महादेवी कहती हैं—

मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का ।

यही नहीं, प्रेयसी प्रियतम का संबंध भी विविध रूप में अभिव्यक्त हुआ है—

प्रिय चिरन्तन है सजनि

क्षण क्षण नवीन सुहागिनी मैं !

और भी—

तुम मुझमें प्रिय, फिर परिचय क्या ।

इसी प्रकार निराला की एक कविता में प्रेयसी अपने प्राणधन के विरह में आसू बहा रही है—

प्राण धन को स्मरण करते

नयन भरते, नयन भरते ।

पन्त में भी आध्यात्मिक प्रेम एवं रहस्य की प्रेममयी झलक है, प्रेयसी प्रिय की पद छाया है—

तुम इस तरुवर की छाया हो

मैं उनके पद की छाया ।

हम शुक्ल जी की पदावली में कह सकते हैं कि छायावादी “कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम का आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना” करते हैं ।

(६) तत्त्व-चिंतन—छायावादी कविता में तत्व-चिन्तन की भी एक विशेष प्रवृत्ति है । इसमें प्राचीन अद्वैत-दर्शन, योग-दर्शन, विशिष्टाद्वैत, पुनर्जन्म और कर्मफल, आनन्दवाद, विश्वमानवतावाद एवं सामाजिक यथार्थवाद इत्यादि तत्वों का दार्शनिक चिन्तन मिलता है । प्रसाद, महादेवी, पन्त और निराला के काव्य में तत्व चिंतन के विविध रूपों का विकास हुआ है । प्रसाद का मूल दर्शन आनन्दवाद है, तो महादेवी ने अद्वैत, साँख्य एवं योग दर्शन का विवेचन अपने ढंग से प्रस्तुत किया है । प्रसाद की कामायनी में विश्वमानवतावाद के दर्शन होते हैं । पन्त ने जगत की अनित्यता, तप का महत्व इत्यादि अपने काव्य में दर्शाया है । स्थानाभाव के कारण हम उदाहरण नहीं दे रहे हैं ।

(७) वेदना की युगानुरूप विवृत्ति—छायावादी कविता में वेदनानुभूति के विविध रूप मिलते हैं । कहीं यह अनन्त वेदना के रूप में है तो कहीं

करुणा के रूप में, अन्यत्र निराशा की भावना के रूप में। प्रसाद और महा-देवी के काव्य में वेदनानुभूति का दर्शन सेवावाद और अध्यात्मवाद है। महा-देवी जी ने इन दुःख के दो रूपों की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है—“एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।” किन्तु प्रसाद और महादेवी के काव्य में पाये जाने वाली इस वेदनानुभूति में निराशा का अन्धकार एवं भौतिक दुःखों का धुँध-लापन नहीं है। यह तो शुद्ध सेवा और आध्यात्मिक जीवन की अनुभूति है, तभी तो महादेवी कहती हैं—

प्रिय ! जिसने दुःख पाला हो !

वर दो यह मेरा आँसू

उसके उर की माला हो !

और भी—

मैं दुःख से शृङ्गार करूँगी

इस वेदनानुभूति में साधनात्मक जीवन का दृढ़ स्वर मुखरित हुआ है—

प्रिय मेरे गीले नयन बनेंगे आरती

प्रसाद में भी वेदनानुभूति ‘हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य’ है। उनकी ‘कामायनी’ की ‘श्रद्धा’ प्रकृति में भी वेदना का पाठ पढ़ती है। आध्यात्मिक वेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति ‘श्रद्धा’ के इस चिंतन में मिलती है—

दृष्टि जब जाती हिमगिरि ओर

प्रश्न करता मन अधिक अधीर

धरा की यह सिकुड़न भयभीत

आह कैसी है ? क्या है पीर ।

पन्त में सौन्दर्य की खोज और अनित्यता के परिचय के कारण दुःख की भावना जाग्रत हुई—

चिर पूर्ण नहीं कुछ जीवन में

अस्थिर है रूप जगत का मद,

निराला के जीवन में सामाजिक जीवन की कठोरताओं से एक अजीब निराशा की झलक एवं झुंझलाहट आ गई है—

जीवन चिरकालिक क्रन्दन
मेरा अन्तर वज्र कठोर
देना जी भर कर भकभोर । आदि

महादेवी और प्रसाद की सेवा के जीवन की वेदना, आध्यात्मिक प्रेम की
पीर और ससार की स्वार्थपरता से उत्पन्न व्यथा अपना विशिष्ट स्थान रखती है ।

(८) विज्ञान का प्रभाव—आधुनिक युग की सब से अधिक प्रगति
वैज्ञानिक आविष्कारों में देखी जा सकती है । वैज्ञानिक युग में बौद्धिक प्रक्रिया
का प्राधान्य हुआ और एक वैज्ञानिक संस्कृति का जन्म हुआ । बिखरे हुए
शक्ति के कणों का संयोजन करके मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त की है ।
इसी से विश्व की दुर्बलता बल में परिणित होगी और मानव संस्कृति
की चेतना का इतिहास सुन्दर होगा । प्रसाद जी ने कामायनी में शक्ति के
संचार का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है और मानवता की विजय की
कामना की है—

शक्ति के वियुक्तकण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय !

वैज्ञानिक संस्कृति में बुद्धिवाद का महत्व बहुत अधिक है । प्रसाद जी की
'इड़ा' भी बुद्धिवाद की प्रतीक है—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल
बह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशि खण्ड सदृश था स्पष्ट भाल ।

x x x x

वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान ॥

बुद्धिवाद में संघर्ष है, संघर्ष में दुख और अभिशाप है । प्रसाद जी ने
बुद्धिवाद के विकास का वर्णन भी किया है । विज्ञान से मानवता विजयिनी हो
सकती है, उसके समन्वय से । लेकिन उसका असामंजस एवं असन्तुलन तो
सृष्टि का विनाश करने वाला है—

तांडव में थी तीव्र प्रगति, परमाणु विकल थे
नियति विकर्षणमयी, त्रास से सब व्याकुल थे ।

—कामायनी ।

इसीलिए वैज्ञानिक उन्नति से बड़ा भय भी है । पन्त में भी वैज्ञानिक विकासवाद (समर्थ और शक्तिवान को जीने का अधिकार) का वर्णन मिलता है—

जो है समर्थ जो शक्तिवान जीने का है अधिकार उसे !

और यही सिद्धान्त तो वैज्ञानिक संस्कृति का महान अभिशाप भी है ।

(६) राष्ट्रीयता एवं देशप्रेम—छायावादी कविता में राष्ट्रीय भावना एवं देश प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है । देशप्रेम की भावना के कई रूप हैं । एक है पुरातन के गौरव का स्मरण—

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण काल
भूतियों का दिगन्त छवि जाल,
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल

प्रसाद जी ने भी देश के प्राकृतिक स्थलों के प्रति स्वाभाविक अनुराग व्यक्त किया है । भारत के प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति कवि का यह उल्लास—

अरुण यह मधुमय देश हमारा ।

जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा ।

सरस तामरस-गर्भ-बिभा पर, नाच रही तरुशिखा मनोहर,

छिटका जीवन हरियाली पर मंगल-कुंकुम तारा ।

देश प्रेम के अतिरिक्त राजनीतिक आन्दोलन का वर्णन भी मिलता है । स्वतन्त्रता आन्दोलन को सक्रिय प्रेरणा देने वाला माखनलाल चतुर्वेदी का 'पुष्प की अभिलाषा' गीत बहुत प्रसिद्ध है—

मुझे तोड़ लेना बनमाली

उस पथ पर देना तुम फेंक,

मानृभूमि पर शीश चढ़ाने

जिस पथ जावें वीर अनेक ।

इस राष्ट्रीयता की भावना में कहीं-कहीं क्रान्ति के भी स्वर हैं जैसे नवीन

जी के 'विप्लव' गायन, दिनकर की 'हुँकार' और नरेन्द्र की 'प्रभात फेरी' में।

(१०) शृंगारिकता की भावना और ऐन्द्रिकता—छायावादी काव्य विशुद्ध सौंदर्यवादी और प्रेमवादी काव्य है किन्तु इसमें कहीं-कहीं ऐन्द्रिकता और अश्लीलता की भावना अपरिपक्व एवं उच्छृङ्खल कवियों में पाई जाती है। प्रसाद और महादेवी, निराला आदि में शृङ्गार की भावना का बड़ा संयत रूप है। महादेवी में प्रेम के प्रथम प्रभाव को देखिए—

सजनि तेरे टग बाल, चकित से विस्मित से टग बाल
आज खोए से आते लौट, कहाँ अपनी धँचलता हार।

झुकी जाती पलकें सुकुमार, कौन से नव रहस्य के भार
सजनि वे पद सुकुमार, तरंगों से द्रुत पद सुकुमार ॥

—'रश्मि'

प्रसाद जी ने भी लजीले सौंदर्य का बड़ा संयत और सौम्य वर्णन किया है—

तुम कनक-किरन के अन्तराल में, लुक छिपकर चलते हो क्यों ?

नत मस्तक गर्व वहन करते, यौवन के घन रसकन ढरते।

अधरों के मधुर कगारों में, कल कल ध्वनि की गुंजारों में

मधु सरिता सी वह हँसी तरल, अपनी पीते रहते हो क्यों ?”

दूसरी और भगवतीचरण वर्मा नरेन्द्र, अंचल, बच्चन आदि में कहीं-कहीं धीरे ऐन्द्रिकता और अश्लीलता के वर्णन मिलते हैं। कुछ उदाहरण—

प्रिये अभी मधुराधर चुम्बन गात-गात गूँथें आलिंगन,

सुने अभी अभिलाषी अन्तर मृदुल उरोजों का मृदु कम्पन ॥

—नरेन्द्र (प्रभात फेरी)

एक पल के ही दरस में जग उठी तृष्णा अधर में,

जल रहा परितप्त अङ्गों में पिपासाकुल पुजारी।

—अंचल (मधूलिका)

तब तक समझूँ कैसे प्यार

अधरों से जब तक न कराये

प्यारी उस मधुरस का पान।—बच्चन (आकुल अन्तर)

११—वैयक्तिक चिन्तन और अनुभूति अथवा आत्माभिव्यंजन—

द्विवेदीयुग में इतिवृत्तात्मकता थी, उसमें विषय की प्रधानता थी। इसीलिए उसमें स्थूल दर्शन था। छायावादी कविता में सूक्ष्म सौन्दर्य सत्ता की स्थापना हुई, कविता कवि के अपने राग-विराग को लेकर चलने लगी। इस प्रकार विषय के स्थान पर विषयी (कवि) को महत्व मिला। वैयक्तिक भावनाओं का विकास हुआ। वैयक्तिक चिन्तन और अनुभूति का क्षेत्र बढ़ने लगा। ऐसे कविता अन्तर्मुखी हो गई, कवि के 'अहं' में निबद्ध हो गई। इस वच्छन्दतावाद के कारण गीतित्व का विकास हुआ। आचार्य शुक्लजी के अनुसार शृङ्गारकाल के कवियों का सबसे बड़ा दोष रूढ़ियों के गोरखधन्धे में पड़कर व्यक्तित्व को खो देना था। छायावाद उपयोगितावाद का खण्डन करके भावुकता की स्थापना करता है अतः इसके कवियों ने उन्मुक्त आत्माभिव्यंजना को प्रधानता दी। व्यक्तित्व का विकास हुआ। कवि का अहं पुष्ट हुआ। कवि सम्पूर्ण वस्तु जगत को अपनी 'अहं' भावना के काँटे पर तौलने लगा। वह अपने व्यक्तिगत संस्कारों, चिन्तन एवं कल्पना के आधार पर वस्तु के चित्रण में प्रवृत्त हुआ। इसीलिए उसका व्यक्तित्व सर्वत्र मुखरित है। पन्त प्रकृति में अप्सरा के दर्शन करते हैं। यह तो हुआ वैयक्तिकता का विकास।

व्यक्तिवाद का दूसरा पक्ष आत्माभिव्यंजन अर्थात् अपने सुख-दुख, उतार-चढ़ाव इत्यादि की व्यंजना करना है। छायावादी कवियों में आत्माभिव्यंजन भी खुलकर हुआ। महादेवी, बच्चन, नरेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा आदि की कविताओं में यह आत्माभिव्यंजन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। महादेवी तो अपनी कविता में अपने सपनों को, मिलन को, विरह को और अन्य भावनाओं को ही अभिव्यक्ति देती हैं। बच्चन भी आत्मकथा ही गाते हैं। निराला में भी 'अहं' जागरित है किन्तु वह वैयक्तिकता में ही परिणित हुआ है आत्माभिव्यंजन में नहीं। और भगवतीचरण वर्मा के तो कहने ही क्या हैं, वे तो अपनी मस्ती पर ही रीझ रहे हैं—

हम दीवानों की क्या हस्ती,
हैं आज यहाँ कल वहाँ चले

मस्ती का आलम साथ चला

हम धूल उड़ाते जहाँ चले ।

अपने व्यक्तिगत जीवन के संघर्षों का, उतार-चढ़ाव का, आशा-निराशा का एवं एकाकीपन का वर्णन इनकी आत्माभिव्यंजक कविताओं में भरा पड़ा है। बच्चन का 'आज मुझ से दूर दुनिया' * गीत उसके जीवन के एकाकीपन का द्योतक है। कहीं-कहीं तो यह एकाकीपन और निराशा निर्वेद की भूमिका पर पहुँच कर चिता, मृत्यु इत्यादि का वर्णन भी करने लगती है। वैयक्तिकता की अहंवादी प्रवृत्ति का सुष्ठु रूप प्रसाद, निराला प्रभृति कवियों में दिखाई पड़ता है।

✓ १२—गीत और प्रगीत मुक्तक—वैयक्तिकता और आत्माभिव्यंजन के कारण छायावादी कविता में गीतत्व का विकास हुआ। महादेवी जी ने गीत की परिभाषा इस प्रकार की है "सुख-दुःख के भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।" गीत यदि दूसरे का इतिहास न कह कर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है इसमें सन्देह नहीं। मीरा के हृदय में बैठी हुई नारी और विरहिणी के लिये भावातिरेक सहज प्राप्य था।" और आगे महादेवी जी छायावादी काव्य पर दृष्टि पात करती हैं— "हिन्दी-काव्य का वर्तमान नवीन युग गीत प्रधान ही कहा जायगा। हमारा व्यस्त और व्यक्ति-प्रधान जीवन हमें काव्य के किसी और अङ्ग की ओर दृष्टि-पात करने का अवकाश ही देना नहीं चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिये संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपनी प्रत्येक कम्पन को अङ्कित कर लेने के लिये उत्सुक हैं" आदि।" इस प्रकार छायावादी आत्माभिव्यंजक कविता सहज ही गीत-प्रधान हो गयी। फिर भी यह गीत पुराने गीतों से इस बात में भिन्न है कि इनमें संगीतात्मकता स्वयंसिद्ध है चाहे वह संगीत शास्त्रानुकूल न हो। ये गेय हैं। ये स्वच्छंद शैली पर रचित हैं। इनमें संगीत शास्त्र का आधार नहीं है वरन् स्वतंत्र रूप से छंद

लय और गेयता विधान है निराला की 'गीतिका' में इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। महादेवी की कविता में भी गीति-तत्व का सुन्दर विकास है।

प्रगीत मुक्तकों में स्वतंत्र छंद और लय की योजना तो है किन्तु गेयता का निश्चित विधान नहीं है। इनमें मुक्तक छंद का प्रयोग ही अधिक है।

श्री शम्भूनाथ सिंह जी छायावादी गीत-काव्य में काव्य के रूप से अधिक उसके भाव पक्ष की विशेषताओं को महत्व देते हैं क्योंकि इसमें वैयक्तिक और संवेदनात्मक अनुभूतियों की प्रधानता रहती है। उन्होंने इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ बतलायी हैं—

१—भावतत्व और लयतत्व का सामंजस्य और समत्व।

२—आत्माभिव्यक्ति।

३—अनुभूतियों की ताजगी और सच्चाई।

४—भावावेगों की तीव्रता और अन्विति।

५—उद्देश्य की एकता और प्रभावान्विति।

छायावादी कविता में इस गीति तत्व का प्रभाव जयशंकर प्रसाद ने महाकाव्य 'कामायनी' में भी देखा जा सकता है। निर्वेद सर्ग का 'तुमुल कोलाहल कलह में' शीर्षक गीत एक उत्कृष्ट गीत है।

१३—प्रतीकात्मक शैली और अलंकार योजना—

अलंकार योजना की दृष्टि से छायावादी काव्य में जो लाक्षणिक वक्रता मिलती है वह उत्कृष्ट है। शुक्ल जी के अनुसार "आभ्यंतर प्रभाव-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रचुर विकास छायावाद की काव्य शैली की अपनी विशेषता है।" शुक्ल जी ने छायावादी चित्रभाषा शैली या प्रतीक पद्धति के अन्तर्गत प्रस्तुत प्रसंग के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाले अप्रस्तुत चित्रों की योजना देखकर उसकी अन्योक्ति पद्धति की सराहना की है। इसके अतिरिक्त उपमा और उत्प्रेक्षा की भरमार की ओर भी उनकी दृष्टि गई। लाक्षणिक प्रयोगों के कुछ उदाहरण उन्होंने पन्त जी के पल्लव से प्रस्तुत किये। जैसे—

(१) धूल की ढेरी में अजजान। छिपे हैं मेरे मधुमयगान।

(२) मर्म पीड़ा के हास ।

(३) कौन तुम अतुल अरूप अनाम ।

प्रसाद जी में उपलक्षण की अधिकता है । शुक्ल जी ने छायावाद के प्रभाव-साम्य पर गढ़े अप्रस्तुतों की चर्चा की है—“ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप या प्रतीकवत होते हैं—जैसे सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवन काल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक उषा, प्रभात, लघुकाल ।” प्रसाद जी की कविता का एक उदाहरण—

भंभा भंकोर गर्जन है—

इसमें भंभा-क्षोभ का प्रतीक, गर्जन वेदना की तड़प का ।

महादेवी जी कवि के साथ रहस्यवादी और चित्रकार भी हैं, इसलिये उनकी कविता में प्रतीकों की छटा देखने ही योग्य है । उनकी वेदनानुभूति अधिकतर प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त हुई है । 5

चित्रात्मकता छायावादी कविता की मुख्य प्रवृत्ति है । भाषा और शब्द चयन का सौन्दर्य प्रसाद, महादेवी, निराला और पन्त में देखने योग्य है । छायावादी कवियों ने बहुत से अंग्रेजी अलंकार जैसे मानवीयकरण, विशेषण-विपर्यय, ध्वनिचित्रण आदि अपना लिये हैं जिससे भाषा की चित्रमयता बहुत बढ़ गई है । अमूर्त भावनाओं जैसे चिन्ता, लज्जा, काम, रति इत्यादि को मूर्त रूप देने के लिए प्रसाद जी ने कामायनी में मानवीयकरण की पद्धति का सुन्दर परिचय दिया है । कुछ स्वच्छंद कवियों जैसे पन्त ने व्याकरण की कड़ियाँ भी तोड़ने का प्रयत्न किया है । अस्तु ।

5 विशेष—लेखक की ‘महादेवी का वेदना भाव’—“पुस्तक में महादेवी जी के वेदना-भाव की अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रतीक” देखिए ।

प्रगतिवाद युग

आधुनिक काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियों का अध्ययन करते हुए हम प्रगतिवाद युग का सामान्य परिचय दे चुके हैं। यहाँ हम इस युग की प्रमुख प्रवृत्तियों का कुछ विस्तार से अध्ययन करेंगे। प्रगतिशील काव्य का प्रारम्भ कब से माना जाय, यह एक कठिन समस्या है। फिर भी हमें छायावादी काव्य के हासोन्मुख होते ही एक विशेष प्रकार की कविताओं का प्रचलन देख पड़ता है। यह प्रवृत्ति सन् १९३६ के लगभग देखने को मिलती है। छायावादी कवियों ने ही पहले पहल सूक्ष्म सौन्दर्यवादी दृष्टि छोड़कर सामाजिक यथार्थवाद की प्रवृत्ति अपनायी और इस प्रकार कल्पना के नीलगगन से ठोस पृथ्वी पर उतरने का प्रयत्न किया। इस दिशा में पन्त पहले कवि हैं। उन्होंने १९३८ में 'रूपाभ' के सम्पादकीय में युग की परिस्थितियों के परिवर्तन एवं प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता का संकेत किया—

‘इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र रूप धारण कर लिया है इससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गए

। श्रद्धा अवकाश में पलने वाली सस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता सपनों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।’

प्रगतिवाद के मूल में युग की परिस्थितियों का जो संकेत पन्त जी ने दिया है, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। राजनीतिक क्षेत्र में द्वितीय महायुद्ध के काले बादल मँडरा रहे थे और फासिज्म का नग्न रूप बढ़ा भयावह हो गया था। इस शक्ति का संयुक्त विरोध करने के लिए कम्युनिज्म का भी स्वागत हो रहा था। साथ ही राजनीति का मूलाधार आर्थिक व्यवस्था

बन गई थी। पूँजीवाद का विश्वव्यापी विकास अपनी चरमोन्नति की अवस्था में था और धीरे-धीरे उसको शोषण की प्रक्रिया के प्रति क्रांति के चिन्ह प्रकट हो रहे थे। यह प्रतिक्रिया भी पूँजीवाद की भाँति ही विश्वव्यापी थी। ऐसे ही समय में पूँजीवादी एवं फासिस्ट देश अपने-अपने स्वार्थ साधन में एवं शक्ति बढ़ाने में व्यस्त थे और उनमें सङ्घर्ष होना अनिवार्य हो गया था। सामाजिक क्षेत्र में कुरीतियाँ, परंपरा और अंधविश्वास के कारण जनता का गला घुँट रहा था। उस पर आर्थिक वैषम्य ने तो समाज की इन रूढ़िवादी शृंखलाओं को भनभनाकर इससे बढ़ एवं पीड़ित समाज के रुधिर में ऐसी उत्तेजना भर दी कि वह इसे तोड़ फेंकने के लिए उत्तेजित हो उठा। कृषक एवं अन्य शोषित वर्ग में जो जाग्रति गाँधीजी की राजनीति ने की थी उसका प्रभाव भी दिखाई पड़ रहा था। वे अपने मानवीय अधिकारों की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध हो रहे थे और इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति में व्यस्त पूँजीवादी संस्कृति की सत्ता पर आँच आने लगी थी। धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मण धर्म इस बौद्धिक युग के मानदण्डों के विपरीत था अतः उसके प्रति भी घोर विद्रोह की भावना पनप रही थी। जहाँ तक आर्थिक स्थिति का प्रश्न है, वह बहुत जटिल थी। सन् १९३०—३२ की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी, बेरोजगारी, पूँजीवाद के कारण बढ़ता हुआ शोषण और आर्थिक वैषम्य, मानवतावादी समानता का दर्शन, पाशविक बल का बोलबाला, दरिद्रता का विस्तृत साम्राज्य इत्यादि ऐसे कारण थे जिनसे समाज के शोषित वर्ग में तीव्र विद्रोह की भावना पनप रही थी। विलासिता के मुख्य स्तम्भ किसान और मजदूर अपनी विपत्ति के मूल—पूँजीवाद—पर आघात करने को उद्यत हो गए। इस प्रकार आर्थिक अन्याय और अत्याचार का विरोध करने के लिए एक सामूहिक प्रयत्न का सूत्रपात हुआ, जिसका मूल दर्शन मार्क्सवाद द्वारा प्रचारित सिद्धान्त बने। प्रगतिवाद के पूर्ववर्ती युग को बनाने वाली सामान्य परिस्थितियाँ यही थीं इन विविध परिस्थितियों के मूल में जो समाजवादी यथार्थवाद और तज्जन्य विद्रोह की भावना थी उसका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर बड़े व्यापक रूप में पड़ा। इसके अतिरिक्त साहित्यिक पृष्ठभूमि का विवेचन भी आवश्यक है। छायावाद का पूर्ण परिपाक हुआ। सूक्ष्म सौन्दर्यवादी दृष्टि की बारीकी बढ़ी।

लाक्षणिक शैली एवं प्रतीक विधान का कौशल भी अपने उच्चतम रूप में विकसित हुआ। किंतु नवयुग की भावनाओं की सच्ची अभिव्यक्ति नहीं हो रही थी। कविता धीरे-धीरे रुढ़िग्रस्त होती जा रही थी, और युग के समाजवादी दर्शन का अभिव्यक्त करने में सक्षम नहीं थी। छायावाद युग की कविता व्यक्तिमानव को लेकर चलती थी किन्तु धीरे-धीरे समष्टि मानव का महत्व बढ़ रहा था। इसलिए छायावादी साहित्यिक मानदण्डों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। इन द्विद्रोह के स्वरो को लेकर चलने वाली क्रान्तिवादी कविता का मुख्य तत्व प्रगतिशीलता—नवीन समाजिक यथार्थवाद को अपनाने की निरन्तर प्रवृत्ति थी, इसलिए यह कविता प्रगतिशील कविता कहलायी।

साहित्य की अपनी अखंड परंपरा होती है। उसी में समय-समय पर कोई विचारधारा महत्व प्राप्त कर लेती है और दूसरी हासोन्मुखी हो जाती है। यह तो उसके भीतर प्राणशक्ति की बात है और फिर युग की परिस्थितियों से जो वातावरण बनता है उसका प्रभाव भी पड़ता है। इस प्रकार प्रगतिवाद हिंदी साहित्य की परम्परा का स्वाभाविक विकास है जो हासोन्मुखी छायावाद-युग के साहित्य से ही जन्मा है फिर भी अपनी मूलभूत प्रेरणा में उससे एकदम भिन्न है। यों तो साहित्य की अखंड परम्परा है और वह निश्चय ही प्रगतिशील भी है किन्तु हिंदी में जो साहित्य प्रगतिशील साहित्य के नाम से जाना जाता है वह निश्चय ही छायावाद के बाद का व्यापक सामाजिक चेतना वाला साहित्य है जिसमें मार्क्सवादी सामाजिक यथार्थवाद को विशेष महत्व दिया गया है। इसकी इसी विशेषता को लक्ष्य करके बहुत से सुधी लोग इसे मार्क्स की देन, विदेशी साहित्य का अनुकरण अथवा प्रोग्रे-सिव लिटरेचर का अनुकरण मानते हैं और इसे सर्वथा अभारतीय और विदेशी विचारधारा प्रोत्थित करते हैं। किन्तु यह सब भ्रमात्मक विचार हैं। जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं कि तत्कालीन विषम सामाजिक परिस्थिति और हासोन्मुखी छायावादी साहित्यिक परिस्थिति में प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव होना उस युग की एक स्वाभाविक आवश्यकता थी और इसीलिए यह हिन्दी साहित्य की परम्परा का ही विकास है। डा० रॉगेयराघव के शब्दों में "वर्तमान काव्य छायावाद की परम्परा में से जन्मा है।" उसने वह माधुर्य विरासत

में पाया है जो उसे भाषा ने दिया है और नये दर्शन ने उसे पौरुष दिया है जो उसे जागरूक और चेतन तथा सकर्मक बनाता है।^{१२} वस्तुतः सामाजिक वैषम्य के आधार पर जो काव्य प्रगति कर सका उसमें छायावादी वैयक्तिकता के प्रति घोर विद्रोह था और इसीलिए उसका रूप प्रतिक्रियात्मक था। प्राचीन साहित्यिक मानदण्डों को हटाकर नवीन विचारधारा के अनुकूल रूप और भाव का मिश्रण हुआ इसीलिए श्री रामेश्वर वर्मा का मृत है। “छायावाद के पतन के साथ जनता की महान सांस्कृतिक चेतना के रूप में हिंदी के साहित्यिकों ने प्रगतिवाद के जीवन-योग्य दृष्टिकोण को अपनाया। प्रगतिवाद कोई ‘वाद’ नहीं वरन् जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण है। प्रगतिशील साहित्य जनता की उस महान आशा, आकाँक्षा और कर्मच्छा की अभिव्यंजना है जो देश, समाज और मनुष्य की आर्थिक राजनैतिक एवं बौद्धिक दासता से मुक्त होने की प्रेरणा देती है।”^{१३} इस प्रकार स्पष्टतया प्रगतिवाद मार्क्सवाद का हिन्दी रूपान्तर न होकर हिन्दी साहित्य में सामाजिक मानवतावाद की प्रतिष्ठा है जो तत्कालीन युग में इस देश की आवश्यकता थी और जिसका स्वाभाविक विकास समझने में हमें राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास एवं तत्कालीन युग को बनाने वाली परिस्थितियों का ज्ञान सहायक है।

प्रगतिवाद के आविर्भाव एवं मूल में जिन परिस्थितियों का हाथ है, उनका अध्ययन हम कर चुके, अब उसकी मूलवर्ती मानवतावादी विचारधारा के स्वरूप का विवेचन करेंगे। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मानवतावादी विचारधारा के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है—“आज नाना स्वरों में वैचित्र्य-संवलित आकार धारण करके एक ही उत्तर मानव-चित्त की गम्भीर-तम भूमिका से निकल रहा है—मानवता ठीक है। पर मुक्ति किसकी ? क्या व्यक्ति मानव की ? नहीं। सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को—व्यक्ति मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि मनुष्य को—आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा।”..... इस प्रकार हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश और बैठ रहा है—व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव का प्राधान्य। . . . जब-जब ऐसे बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है तब-तब साहित्य नये काव्य रूपों की उद्-

भावना करता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ है। इसी नवीन आदर्श से चालित साहित्य का नाम 'प्रगतिशील' साहित्य है।" आगे द्विवेदीजी प्रगतिवादी साहित्य के निश्चित तत्त्व-दर्शन—मार्क्स के प्रचारित तत्त्वदर्शन की व्याख्या करते हैं। "इस विचारधारा के अनुसार—(१) संसार का स्वरूप भौतिक है, वह किसी चेतन सर्वसमर्थ सत्ता का विवर्तन या परिणाम नहीं है। (२) उसकी प्रत्येक अवस्था की व्याख्या की जा सकती है। कुछ भी अज्ञेय या अचिंत्य नहीं है, कुछ भी रहस्य या उलझनदार नहीं है। इस मत को माननेवाले साहित्यिक रहस्यवाद में विश्वास नहीं कर सकता, प्रकृति या ईश्वर के निष्ठुर परिहास की बात नहीं सोच सकता, भाग्यवाद के ढकोसले को बर्दास्त नहीं कर सकता। (३) इस मत में समाज निरन्तर विकसनशील संस्था है। आर्थिक विधानों में परिवर्तन के साथ-साथ समाज में भी परिवर्तन होता है। इस मत को स्वीकार करने वाला साहित्यिक समाज की रूढ़ियों को सनातन से आया हुआ, शासक या ईश्वर की निर्भ्रांति आज्ञाओं पर बना हुआ और उच्च नीच मर्यादा को अपरिवर्तनीय सनातन विधान नहीं मान सकता।" इस प्रकार मार्क्सवाद वर्गहीन समाज के पक्ष में है और साहित्य उसका साधन है।

वस्तुतः मार्क्सवाद का सौन्दर्य और कला से विरोध नहीं है, किन्तु वह पहले उन भौतिक अभावों को, जनता के दैन्य और दारिद्र्य को दूर करना चाहता है, जिसके कारण उनकी सौंदर्यानुभूति में कमी पड़ती है। उसका सिद्धान्त है 'भूखे भजन न होय गुपाला।' इसलिए वह कला को जनसाधारण के उपभोग का विषय बनाना चाहता है और शोषित पीड़ित मानव को ही अपने काव्य का आलम्बन बनाता है। सामन्तशाही और पूंजीवाद से उसका विरोध है। इस प्रकार इस साहित्य में जनवादी विचार धारा प्रवाहित हो रही है। क्योंकि इसका जन्म ही जन-समूह की राजनीतिक चेतना के फलस्वरूप हुआ है। इसीलिए एन्ट जी ने ताजमहल के सौन्दर्य को युग के जीवन के साथ मिलाकर देखा और उन्हें प्रतीत हुआ कि यह आत्मा का अपमान है, मानवता की उपेक्षा है—

(हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन !
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग क जीवन !

वस्तुतः इस कविता में ताजमहल की आलोचना नहीं है वरन् कला के प्रति प्रगतिवादी दृष्टिकोण है। इसमें तत्कालीन परिस्थितियों में छायावादी सूक्ष्म सौंदर्यपेक्षिणी दृष्टि की व्यर्थता ही अधिक सिद्ध होती है। ताजमहल का युग दूसरा था, उसकी आलोचना एवं कल्पना तो यह सुकुमार कवि कर भी नहीं सकता।

वस्तुतः प्रगतिशील कविता छायावाद के बाद का साहित्यिक प्रयत्न है। डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में “यह युग की माँग को पूरा करने वाला साहित्य है। इसकी शक्ति इस बात में है कि वह समाज के वास्तविक जीवन के निकट है। . . . जो साहित्य जनता का पक्ष लेगा वह जरूर शक्तिशाली होगा और अजेय गति से आगे बढ़ता जायेगा। . . . लेखक के लिए मूल समस्या यह है कि हम अपने साहित्य की जातीय विशेषताओं की रक्षा करते हुए किस तरह उन्हें विकसित करें कि हमारी जनता की चेतना निखरे और वह आज के दुखों और अभावों की दुनियाँ से निकलकर सुख और स्वाधीनता के प्रकाश में सौँस सके।” यही कार्य प्रगतिशील साहित्य ने किया है। वस्तुतः प्रगतिवाद ऐसी जीवन दृष्टि बनकर आया जिससे कविता, उपन्यास, आलोचना आदि सभी क्षेत्रों में एक नवीन चेतना के दर्शन हुए। उसने जनवादी दृष्टिकोण को साहित्य के विविध क्षेत्रों में प्रतिष्ठित किया, नवीन दिशाओं एवं मान्यताओं को अपनाया। यहाँ हम केवल प्रगतिवादी काव्य-धारा का अध्ययन कर रहे हैं।

(प्रगतिवाद का प्रारम्भ छायावादी कवियों ने ही किया) यह इसकी आवश्यकता एवं स्वाभाविक विकास की घटना को पूर्णतया सत्य प्रमाणित कर देता है। पन्त जी ने ‘युगान्त’ में छायावाद का अन्त करते हुए ‘युगवाणी’ में जनवादी विचारधारा को अपनाया। ग्राम्या में प्रगतिवादी मान्यताओं का व्यापक प्रयोग है। प्रगतिवाद का आलम्बन जनजीवन है और भारत में जन जीवन के केन्द्र हैं ग्राम। पन्त जी की ग्राम्या में ग्राम के समग्र रूप की भाँकी मिलती है। किसानों और मजदूरों, धोबियों और ग्रामवधू की ग्राम्य प्रकृति और ग्राम्य नर-नारी के प्रति बौद्धिक सहानुभूति भी। धीरे-धीरे पन्त फिर पुराने आदर्शवाद में खो गए हैं। उनका प्रगतिवाद की ओर झुकाव हृदय परिवर्तन का द्योतक

न होकर बौद्धिक परिवर्तन था। सामाजिक चेतना का आदर्श उनके लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हुआ और वे पुनः व्यक्तिनिष्ठ आदर्शवाद के क्षेत्र में आ गए। दूसरे छायावादी कवि निराला नई भाषा, भाव और शैली को लेकर आए। इन्होंने निम्न-वर्ग को अपनी कविता का साध्य बनाया और उनकी दीन स्थिति के निर्माताओं पर कटु व्यंग्य किए। भिन्न, कुकुरमुत्ता, गर्म पकौड़ी, डिप्टी साहब आये, कुत्ता भौंकने लगा आदि व्यङ्ग्यों में निराला ने पूंजीवाद की भर्त्सना की। किन्तु इन सभी कविताओं में कवि का अहम् झलकता है, सामाजिक दर्शन नहीं। अतः ये सब रचनाएँ उनके छायावादी व्यक्तित्व की प्रतिक्रिया हैं। और जब प्रगतिवाद साहित्यिक परम्परा के विकास की ही एक सीढ़ी है तो पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी विचारों की छाया स्वाभाविक ही है। यह था आरम्भिक प्रगतिवाद जो छायावादी कवियों के काव्य में अवतरित हुआ अंचल की कविताओं में भी इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। उनकी आरम्भिक रचनाओं में यौवनगत प्रेम, पिपासा और रूप-लालसा विद्यमान है जिनमें सौन्दर्यान्वेषण ही प्रधान है। उन्होंने वैयक्तिक भावनाओं को भी महत्व दिया है (धीरे-धीरे प्रगतिवाद अपनी व्यक्तिवादी, प्राकृतिकतावादी (अंचल में इनका प्राधान्य है) और आदर्शवादी (पन्त में कहीं-कहीं अध्यात्मवाद की झलक मिलती है) प्रवृत्तियों को छोड़ कर स्वस्थ सामाजिक दर्शन को अपना रहा है और अपने प्रकृत स्वरूप—जनवादी धारा—को प्रकट कर रहा है। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, रंगेय राघव, रामविलास शर्मा, भवानीप्रसाद मिश्र, चन्द्रकुंवर वर्मा, भैरवप्रसाद गुप्त, शिवमंगलसिंह सुमन, त्रिलोचन, अमृतराय, राजेन्द्र यादव प्रभृति कवियों ने इस स्वस्थ प्रगतिवादी (जनवादी) विचारधारा को अपनी कविताओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। ये कवि अधिकांशतः मध्यवर्ग से निकल कर आए हैं।

अब तक हमने प्रगतिवाद के उद्भव एवं विकास का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया अब हम प्रगतिवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन करेंगे। वे इस प्रकार हैं—

राजनीतिक चेतना से उद्भूत इस जनवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति सामाजिक यथार्थवाद की है। यदि छायावादी काव्य में कल्पनाप्रवण अन्तर्दृष्टि का पक्ष-ध्वन हुआ तो प्रगतिवादी काव्य में सामाजिक यथार्थ-दृष्टि मूलमंत्र के रूप में अभिव्यक्त हुई। यही प्रगतिवादी दृष्टिकोण है। विलासी उच्च समाज के आधार स्तम्भ कृषक और मजदूर हैं। उन्हीं कृषक एवं मजदूरों को प्रगतिवाद ने अपने काव्य में प्रमुख स्थान दिया। इसीलिए ग्राम्य प्रकृति एवं ऊबड़-खाबड़ कच्चे घरों और उनमें खेलने वाले मटमैले बच्चों को इस धारा के कवियों ने सहानुभूति पूर्ण दृष्टि से देखा। देखिए ग्राम चित्र—

यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।

भाड़ फूँस के विबर,—यही क्या जीवन शिल्पी के घर ?

ग्रामीण वातावरण के प्रति कवि सहानुभूति प्रदर्शित करता है।

सड़े घूर की गोबर की बदबू से दबकर,

महक जिंदगी के गुलाब की मर जाती है

—केदारनाथ अग्रवाल

यही नहीं, प्रगतिवादी कवियों ने 'ग्राम श्री' के चित्र भी खींचे हैं। इनमें 'लहेलह पालक महमह धनिया', 'रजत स्वर्ण मंजरियों से लदी आम्र-तरु की डाली', 'अरहर सनई की सोने की किंकणियाँ और फूली सरसों पीली-पोली' आदि चित्रों में बड़ी सजीवता है।

'ग्राम श्री' की शोभा निरखना एवं ग्रामीण जीवन के प्रति सहानुभूति प्रकट करना इत्यादि प्रगतिवादी जनवादी दृष्टि की आधार शिला है। इसी को पन्तजी ने 'विश्व को ग्रामीण नयन से देखना' कहा है—

देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से,

सोच रहा हूँ जटिल जगत पर जीवन पर जनमन से

(२) सामयिक समस्याओं के प्रति सचेष्टता—यह भी यथार्थवादी दृष्टि है। प्रगतिवादी कवि सामयिक जीवन की विभिन्न घटनाओं एवं परिस्थितियों की व्यंजना करता है। इस प्रकार जीवन और काव्य को अधिकाधिक घनिष्ट बनाने की चेष्टा हुई। प्रगतिवादी आलोचकों का मत है कि कविता,

का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है और वही कविता उत्कृष्ट है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है। राष्ट्रपिता गाँधी की मृत्यु पर प्रगतिवादी कवियों ने बड़ी छुटपटाहट व्यक्त की। नागार्जुन की 'महाशत्रुओं की दाल न गलने देंगे हम' शीर्षक कविता को देखिए—

‘बापू मरे.....

अनाथ हो गई भारत माता.....

अब क्या होगा.....

हाय ! हाय ! हम रहे कहीं के नहीं

लुट गये

.....रो रो करके आँख लाल करलीं धूर्तों ने।

प्रगतिवादी कवि अपने देश की समस्याओं के प्रति तो जागरूक हैं ही, वह इससे भी आगे बढ़कर विश्व में कहीं भी मानवता के प्रति अन्याय होने पर अपनी सचेष्टता प्रकट करता है। यह उसकी विशाल सहृदयता है जिसके कारण उसका काव्य सचमुच बहुत ऊँचा उठ जाता है। चन्द्रकुँवर वर्माल ने हिरोशिमा की बर्बादी पर आँसू बहाए हैं, अमरीका को कोसा है और पूँजीवाद के सभी गढ़ों के अवश्यम्भावी विनाश को बड़े विश्वास के साथ व्यक्त किया है—

हिरोशिमा का शाप—

एक दिन न्यूयार्क भी मेरी तरह हो जायगा ;

जिसने मिटाया है मुझे वह भी मिटाया जायगा

आज ढाई लाख में कोई नहीं जीवित रहा,

न्यूयार्क में भी एक दिन कोई नहीं रह पायगा।

देख लो लन्दन मुझे पेरिस मुझे तुम देख लो,

है सभी के भाग्य में इस भौति मिटना लिखा।

इसी प्रकार इन प्रगतिवादी कवियों ने प्रारम्भ से ही बंगाल के अकाल, भारत के बँटवारे एवं पाकिस्तान के निर्माण, हिन्दू मुस्लिम भगड़े एवं नर-हत्या के नग्न ताण्डव, गणतन्त्र का आविर्भाव एवं जनता की भीषण कठि-

नाइयों—भुखमरी, अकाल, बाढ़, महामारी, मँहगाई, बेकारी, भूँठी लीडरी इत्यादि सामयिक घटनाओं एवं समस्याओं के प्रति अपनी जागरूकता प्रकट की है।

(३) बौद्धिकता और व्यंग्य का प्रसार—यों तो आधुनिक काल में द्वितीय युग से ही साहित्य में बौद्धिकता का समावेश हुआ है। यह यन्त्र युग की देन है। इसी कारण साहित्य में भी वैज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन रूढ़ियों एवं मान्यताओं का विश्लेषण हुआ। प्रगतिवाद में इस बौद्धिक दृष्टि का रूप जन-जीवन की समस्याओं में दिखाई पड़ता है। कवि सुधार की भावना से प्रेरित होकर सामयिक समस्याओं के वर्णन में व्यंग्य-दृष्टि जोड़ देता है। वह पूँजीवाद को, उसकी शोषण की प्रवृत्ति को, आधुनिक राजनीति को, उसकी भूँठी लीडरी को तथा अन्य आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के समर्थकों को अपने व्यंग्यों का लक्ष्य बनाता है। यों तो पन्त की 'ग्राम्या' में ही व्यंग्य के दर्शन होते हैं। ग्राम-युवती के असमय में ढलने वाले यौवन में कवि की करुणा प्रवाहित हो जाती है, तो कहीं बुढ़े भिखारी का करुण चित्र है, किन्तु इस वर्णन के अन्तर में कवि के हृदय का व्यंग्य भोंक रहा है, वह चेतावनी सी देता प्रतीत होता है। बुढ़े भिखारी को देखिए—

भूखा है कुछ पैसे पा, गुनगुना

खड़ा हो जाता वह घर

पिछले पैरों के बल उठ

जैसे कोई चल रहा जानवर।

आगे चलकर निराला के 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' में बड़े तीव्र व्यंग्य हैं। इनसे भी आगे चलकर नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल के तीव्र-व्यंग्य मिलते हैं। नागार्जुन ने आज के जर्जर-समाज और आजादी का वैषम्य दिखाते हुए बड़ा नुकीला व्यंग्य किया है। यह आजादी कागजी स्कीमों के अतिरिक्त कुछ नहीं है।—

कागज की आजादी मिलती

ले लो दो - दो आने में।

नागार्जुन के नुकीले व्यंग्य के मूल में सामाजिक दुर्दशा से उत्पन्न अन्त-

व्यथा है। उनकी तिलमिलाहट पुलिस, हाकिम, लीडर सभी के अत्याचार के प्रति है।

(५) परिवर्तन की पुकार अथवा क्रान्ति की भावना—प्रगतिवाद में प्राचीन का परिवर्तन कर नवीन युग के अनुकूल बनाने की प्रेरणा है। इस पुकार में कवियों की क्रान्ति की भावना मुखरित हुई है। समाज, राजनीति और धर्म की बहुत सी रूढ़ियाँ एवं परम्पराओं में परिवर्तन करने की आवश्यकता युग-चेतना ने स्पष्ट कर दी है। इसीलिए प्रगतिवादी कवि सामाजिक एवं राजनीतिक दुर्व्यवस्था से पीड़ित होकर विप्लव गान करता है—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जावे।

—नवीन

और तभी सामाजिक दर्शन प्रतिष्ठित हो सकेगा। रामविलास शर्मा ने 'परिवर्तन की पुकार' अथवा क्रान्ति भावना को फसल के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया है—

कुसंस्कृति भूमि यह किसान की
धरती के पुत्र की
जोतनी है गहरी दो चार बार दस बार
बोना महा तिक्त बीज असंतोष का
काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्रान्ति की।

इस प्रकार प्रगतिवादी कवियों में क्रान्ति की भावना का विकास हुआ। ये प्राचीन वर्ण भेद का नाश करके एक ऐसे संसार की स्थापना करना चाहते हैं जहाँ किसी प्रकार का शोषण न हो, सम्पूर्ण मानवता सुख से रह सके और ऐसी नई व्यवस्था क्रान्ति से होगी। इसीलिए कवि अब कला के मानदण्डों में परिवर्तन करने की पुकार भी करता है। अब तो नीति, सदाचार और धर्म का जन-जीवन से सम्बन्ध होगा तभी इनका स्वस्थ रूप प्रकट होगा।

प्रगतिवादी कवि प्राचीन में आमूल परिवर्तन नहीं चाहता वरन् समाज के गलित अङ्ग को अलग करके उसके शरीर को दृढ़ और सुरक्षित बनाना चाहता है। जीर्ण परातन के नष्ट होने और नूतन के पल्लवित होने की कथि

पन्त की प्रार्थना सुनिए—

नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़ बन्धन ।
पावक पग धर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानवपन ।

(५) सांस्कृतिक समन्वय की भावना—कुछ प्रगतिशील लेखक एक नवीन विश्व संस्कृति की कल्पना करते हैं । मार्क्स ने जब यह कहा था कि आर्थिक व्यवस्था के आधार पर संस्कृति का निर्माण नहीं होता तो उसका मतलब यह था कि पुरानी संस्कृति के तत्व और स्वरूपों को साहित्यकार अपने में समेटकर अधिक पुष्ट और विकसित करें । इस प्रकार एक नवीन समन्वयात्मक संस्कृति को जन्म मिला । पन्तजी के काव्य में सांस्कृतिक समन्वय की चर्चा है जिसके मूल में अरविन्द का चेतनावاد और मार्क्स का समाजवाद है । इन दोनों के समन्वय से पन्त ने एक ऐसी विश्व संस्कृति की कल्पना की है जिसमें धर्म, जाति, वर्ण इत्यादि के भेद मिट जावेंगे और केवल मानव स्वभाव ही सुकर मानव आदर्श बनकर अपूर्ण को पूर्ण और असुन्दर को सुन्दर बनाएगा । इसी भावना की झलक इन पंक्तियों में मिलती है—

अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से निस्पृह निष्प्राण ।

उसे प्रतिष्ठित करके जग में दिया साम्य ने वस्तु विधान ॥

ज्योत्स्ना में कवि विश्व संस्कृति की कल्पना और भी स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त करता है—

सर्व देश, सर्व काल
धर्म, जाति, वर्ण, काल
हिलमिल सब हों विशाल,
एक हृदय अगणित स्वर ।

(६) राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना—प्रगतिवादी कविता में इन दोनों भावनाओं का विकास हुआ है । राष्ट्रीयता एवं देश-प्रेम की भावना का स्वरूप देश के अतीत-गौरव-गान इत्यादि से भिन्न है । कवि अपने निवास-स्थलों (जनपद, ग्राम इत्यादि) की ओर देखकर प्रेम से मग्न होता

है। इस प्रकार यदि पूर्ववर्ती देश-प्रेम की भावना सामान्योन्मुखी थी तो इस काल की भावना विशेषोन्मुख है। यह भी सामाजिक यथार्थवाद की भावना का ही एक रूप है। इसीलिए स्व-जन्मभूमि 'तरउनी ग्राम' से दूर पड़ा हुआ कवि नागार्जुन अपनी सिन्ध प्रवास की बेला में गा उठता है—

याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
याद आता लीचियों औ' आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भूभाग
याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान
याद आते शस्यश्यामल जनपदों के
—रूप-गुण-अनुसार ही रक्खे गए वे नाम
आते वेगु-वन वे, नीलिमा के निलय अति अभिराम।

इसी प्रकार नागार्जुन ने मिथिला सम्बन्धी कुछ और मार्मिक कविताएँ लिखी हैं जो उनकी मातृभूमि प्रेम की भावना को व्यक्त करती हैं।

इसी प्रकार प्रगतिवादी कवियों ने अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का भी विकास किया, एक तो विश्व संस्कृति के रूप में दूसरे शोषण का सर्वत्र विरोध करने में। निम्नवर्ग या शोषितवर्ग के जीवन में जो हाहाकार है जो व्यथा है वह सभी स्थानों में प्रायः एक सी है। प्रगतिवादी विचारधारा के अनुसार विश्व में पूँजीवादी अर्थ नीति से पीड़ित निम्नवर्ग का एक विशाल समुदाय निर्मित हो गया है। इन्हीं मजदूरों और दीनजनों की सार्वदेशिक प्रगति में योग देना प्रगतिवादी कवि का मुख्य लक्ष्य माना जाता है। और क्योंकि रूस इस दिशा में पर्याप्त प्रगति कर चुका है अतएव अनेक प्रगतिशील लेखकों में हमें रूस के प्रति सद्भावना के विचार मिलते हैं। ऐसे लाल रूस का दुश्मन समस्त मानवता का दुश्मन है। सुमन जी की 'मास्को है दूर अभी' 'चली जा रही है बड़ी लाल सेना' में रूस के प्रति श्रद्धा अभिव्यक्त हुई है। रूस के दुश्मन फासिस्टों की भी इन्होंने खबर ली है।

(७) मानवता की सहता का प्रकाशन—सामाजिक यथार्थ-दृष्टि को अपनाकर भी प्रगतिवादी कहीं भी निराश प्रतीत नहीं होता। उसे मानवता

की अपरिमित शक्ति में विश्वास है। मार्क्सवादी प्रमुख लेखक गोकों में भी निर्बल को सशक्त दिखाने की और शोषित एवं पीड़ित वर्ग को कर्म का सन्देश सुनाकर उनमें उत्साह संचार करने की प्रवृत्ति है। प्रगतिशील कवि ने भी कर्म का सन्देश सुनाया है, उठते हुए व्यक्ति को उठाया है और मानवता की अपरिमित शक्ति में विश्वास प्रकट किया है। यह विश्वास यहाँ तक बढ़ गया है कि ईश्वर का अस्तित्व भी संदेहास्पद हो गया है—

जिसे तुम कहते हो भगवान...

जो बरसाता है जीवन में

रोग शोक दुःख दैन्य अपार....

उमे सुनाने चले पुकार ?..... नरेन्द्र

(८) प्रेम का सुष्ठ एवं सामाजिक रूप—कुछ सुधी लोग प्रगतिवाद पर नीरसता अथवा शुष्कता का आरोप करते हुए उसमें प्रेम-वर्णन के अभाव की ओर संकेत करते हैं। वस्तुतः यह धारणा गलत है। प्रगतिवादी को भी प्रेम और उसका दुःखड़ा है किंतु जीवन में अन्य कष्टों के आगे उसका स्वर दब जाता है। डा० रांगेयराघव ने भी इस पर विचार किया है “प्रेम का अपना स्थान है। प्रगतिशील लेखकों ने प्रेम के प्रति प्रायः उदासीनता दिखाई है, क्योंकि उन्होंने प्रेम को बुर्जुआ वर्ग की विरासत माना है। उनकी राय में स्त्री पुरुष का प्रेम वर्गीय संस्कृति का अवशेष है। मनुष्य की सत्ता का सबसे जीवन्त भाग उनकी दृष्टि से अलग रहा है। यह ठीक है कि प्रेम मूल प्रवृत्ति होते हुए भी समाज पक्ष में अपना रूप निरन्तर युगों से बदलता रहा है, किन्तु वह प्रेम का बाह्यपक्ष है। वह पक्ष क्योंकि स्त्री और पुरुष का विषय सामाजिक स्थिति पर टिका है इसलिए उसका विरोध करना भी ठीक है जब कि प्रेम को पलायन के रूप में लिया जाये। किंतु प्रेम जीवन को प्रेरणा भी देता है और उस रूप को न देखना भी एक अपूर्णता का प्रतिबिम्ब है। प्रेम भौतिक पर ही आश्रित होता है। दो मनुष्यों की चेतना का यह समाश्रय प्रेम जब हृदय में उत्पन्न होता है तब व्यष्टि की भूमि में समष्टि का बीज पड़ता है और एक व्यापकता सामने आती है—

कि चूम लिया तुमने प्यार से मेरी मुग्ध मुँदी पलकों को

कि पुलकित हो ज्योंही खोलकर आँखें देखा मैंने
 तुम्हारा वह अमिताभ मुख मण्डल
 कि लो, खुल पड़े
 सत्ता के अगम देवालय के वातायन
 अरे, यह मैं क्या देख रहा स्वप्न है कि सत्य यह ?
 तुम्हारे हृदय पद्म से उफन रहा ज्योतिर्मय
 जीवन का आदि स्रोत,
 शिशु की मुस्कान सी निर्मल यह दुग्ध धारा
 मानव की चिरकाम्या
 तुम्हारे प्यार की संजीवन सुधाधारा !

—वीरेन्द्रकुमार जैन,

इस प्रकार डा० रांगेयराघव ने प्रगतिवादी प्रेम की सुष्ठु स्वरूप की सामा-
 जिकता का प्रदर्शन करते हुए लिखा है—“इस प्रेम में छायावादी दुरूहता
 नहीं है। इसमें रूप एक जाल नहीं जो कि जीवन को एकांगी बना रहा हो।
 वह तो उसकी वास्तविकता का आभास दे रहा है। समाज की विषमताएँ भी
 साहित्य में इसीलिए दिखाई जाती हैं कि वे मनुष्य के सौन्दर्य और सत्य पर
 आघात पहुँचाती हैं। यहाँ आलोक है स्नेह है। यही स्नेह जब व्यक्ति
 के साथ रहता है तब वह कोमलता का सिरजन करता है, बाहर जब समाज का
 व्यापक क्षेत्र देखता है तो न्याय की ओर उसकी दृष्टि जाती है।”^२

(१०६) नारी स्वातन्त्र्य की पुकार—प्रगतिवादी कवियों ने नारी को भी
 शोषित माना है। वह पुरुष की दासी बनकर बहुत समय से उसकी छाया
 बनी है, अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व खो बैठी है। पन्त जी ने अपने ‘आधुनिक
 कवि’ की भूमिका में लिखा है “सामंत युग के स्त्री-पुरुष-सदाचार का दृष्टि-
 कोण अब अत्यन्त संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदंड स्त्री की शरीर
 यष्टि रहा है।” इस प्रकार नारी को विलास की सामग्री, केवल योनि मानने

१—समीक्षा और यथार्थ—डा० रांगेयराघव पृ० ६१

२—वही पृ० ६१—६२

वाले सामन्ती आदर्शों का उन्होंने विरोध किया है और उसके स्वातन्त्र्य की वकालत की है—

यौनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित

उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित ।

इन कवियों ने वेश्या वर्ग के प्रति भी सहानुभूति व्यक्त की है। अंचल 'आज मरण की ओर में' वेश्या को मनुष्य की वासना का जीवित प्रतीक मानता है—

माता बनी दूध भर आया, किन्तु न भरता पापी पेट

जननी बन कर भी पशुओं के आगे नग्न सर्वेगी लेट ।

असहाय पशु की भांति रुदन करने वाली अबला की 'स्वतन्त्रता की पुकार' इन कवियों ने अपने काव्य में व्यक्त की—

उसे मानवी का गौरव दे पूर्ण स्वत्व दो नूतन,

उसका मुख जग का प्रकाश हो उठे अंध अबगुंठन ।

खोलो हे मेखला युगों से कटि-प्रदेश से तन से,

अमर प्रेम ही बंधन उसका वह पवित्र हो मन से ।

—युगवाणी (नर की छाया)

(१०) प्रगतिवाद का मूल स्वर-शोषित और शोषक वर्ग—प्रगतिवादी काव्य का मूल स्वर शोषित और शोषक दो वर्गों में समाज को बाँटकर उनकी अभिव्यक्ति करना है। एक ओर शोषक वर्ग है तो दूसरी ओर शोषित। किन्तु फिर भी प्रगतिवादी शोषित वर्ग का ही अधिक वर्णन करते हैं—चाहे वह कृषक हो, मजूर हो, नारी हो। शोषक वर्ग के प्रति घृणा, वितृष्णा, व्यंग्य आदि की अभिव्यक्ति उनके काव्य में हुई है। फिर भी उनका विशेष वर्णन नहीं है।

(११) प्रगतिवादी काव्य का कलापद्ध—प्रगतिवादी कविता जनसाधारण के उपभोग की वस्तु है अतः वह अत्यन्त सरल है। उसमें छायावादी दूरा-रुढ़ कल्पना का बहिष्कार कर कलाकार जीवन की वास्तविकता को लेकर इसी धरती पर चला है। इसलिए उसकी भाषा और शैली भी भावानुसारिणी है।

छन्द की दृष्टि से प्रगतिवादी कवियों ने बहुत प्रगति की है। उन्होंने जन-

गीत एवं लोक गीतों की शैली अपनाकर नई धुनों का सृजन किया है। जन-मन को संस्पर्श करने के लिए उसने “बँधी हुई लय के भिन्न २ ढाँचों से युक्त निर्दिष्ट छन्दों का व्यवहार किया है। नई-नई धुनों पर गीतों का सृजन हो रहा है।

भाषा की दृष्टि से भी इन कवियों में प्रगति के दर्शन होते हैं। आज बोलियों में रचना करने वाले प्रगतिवादी कवि भी बहुत हो रहे हैं। इन्होंने अपनी प्रादेशिक बोलियों में उत्कृष्ट कविता का सृजन किया है। इन कवियों में बलभद्र दीक्षित पटौस, बंशीधर शुक्ल, मुकुल, रमई काका, अशान्त आदि प्रमुख हैं। इन्होंने भोजपुरी और राजस्थानी बोली में बड़ी मार्मिक कविता की रचना की है। (वस्तुतः प्रगतिशील कवि का लक्ष्य भाषा को सरल, सुबोध, भावाभिव्यंजन के योग्य बनाना है) इसलिए भाषा के किसी निश्चित आदर्श को अमर न मानकर इन्होंने भावानुकूल भाषा को प्रश्रय दिया है।

जहाँ तक अलंकरण का प्रश्न है, प्रगतिवादी कवि ने प्राचीन रूढ़िवादी अलंकार योजना को छोड़कर नवीन रूपक, उपमान एवं प्रतीक प्रस्तुत किये हैं। प्रगतिवादी कवि सामाजिक जर्जर रूढ़ियों के प्रति व्यंग्य करता है। इसीलिए कहीं-कहीं उसमें अन्योक्ति पद्धति भी दिखलाई पड़ती है। वस्तुतः इन कवियों में जो उपमाएँ प्रस्तुत की हैं वे चमत्कार प्रदर्शन के लिए न होकर भावों की अभिव्यक्ति के लिए हैं, इसलिए उनमें प्रेषणीयता है। इसीलिए उसकी शैली में उपमाएँ और रूपक इतने सरल हैं—

मेरे आँगन में, (टीले पर है मेरा घर)
दो छोटे से लड़के आ जाते हैं अक्सर।
नंगे तन, गद्बदे, सॉवले, सहज छबीले,
मिट्टी के मटमैले पुतले—पर फुर्तीले।

छन्द की गति, लय, भाषा का सारल्य एवं शब्दों की योजना बड़ी स्वाभाविक एवं चित्रोपम है तथा भावों की अपूर्व प्रेषणीयता लिये हुए है।

सिद्धान्त रूप में कलापक्ष के अन्तर्गत प्रगतिवादी कवियों का आदर्श यही

है कि सरल अभिव्यक्ति की प्रणाली के द्वारा जन-मन का संस्पर्श हो सके और कला को दैनिक जीवन के लिए उपयोगी बनाया जाय। इस प्रकार कला के क्षेत्र में वे उपयोगितावादी ही हैं।)

प्रयोगवाद युग

हिन्दी साहित्य का वर्तमान काल प्रयोगवाद का युग है। पिछले लगभग बारह-तेरह वर्षों से नवीन प्रवृत्तियों वाले विशेष प्रकार के काव्य का निर्माण हो रहा है जैसे उसके प्रतिष्ठापक एवं उन्नायक अज्ञेयजी 'प्रयोगशील' काव्य के नाम से पुकारते हैं। वे इसे वाद की संज्ञा से अभिहित करने के पक्ष में नहीं हैं। वस्तुतः प्रयोगवाद शब्द सार्थक नहीं है। इस शब्द से साहित्य के भावपक्ष और कलापक्ष के अन्तर्गत नवीन प्रयोगों का होना लक्षित होता है किन्तु जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, साहित्य की एक अग्रगण्य परम्परा होती है। प्रगतिशीलता उसकी शाश्वत प्रवृत्ति है और इसीलिए बहुत प्राचीनकाल से वर्य-विषय, शैली आदि के क्षेत्र में नई-नई उद्भावनाएँ होती रही हैं। श्रेष्ठ कलाकार अपने व्यक्तित्व की छाप एवं मौलिकता के द्वारा नवीन प्रवृत्तियों का विकास करते हैं। इस प्रकार प्रयोगवाद नाम साहित्य के इतिहास में रूढ़ होने के कारण ही ग्राह्य हो सका है और अब यह एक निश्चित प्रवृत्ति-मूलक काव्य का बोध कराता है। कुछ सुधी लोग प्रयोगवाद से कलापक्ष के अन्तर्गत विभिन्न प्रयोगों का अर्थ लेते हैं और इसे रूपवाद अथवा फॉर्मलिज्म का पर्याय मानते हैं किन्तु इस वाद की कविता की कुछ अन्य प्रवृत्तियाँ भी हैं। कुछ अन्य लोग इसे 'नई कविता' के नाम से अभिहित करते हैं और पूर्ववर्ती कविता से इसकी भिन्नता इसके नव-जीवन के नवीन विश्लेषण और ताजगी से मानते हैं। किन्तु इसमें स्वस्थ नव-जीवन की नवीनता उतनी नहीं है जितनी पूर्ववर्ती युग की कविता से भिन्नता। प्रयोगवादी साहित्य से सहानुभूति रखने वाले कुछ आलोचकों इसे अंग्रेजी के इलियट, पाउण्ड आदि की शैली के अनुकरण में मानते हैं। इनसे भी आगे बढ़कर कुछ लोग इन कवियों की गणना प्रगतिवाद के विरोधी और देशी एवं विदेशी पूँजीपतियों के समर्थक पिछुओं में करते हैं। इनमें वे प्रगतिवाद के विरोध की भावना पाते हैं। कुछ

अन्य लोग प्रयोगवाद को छायावादी अतिशय वैयक्तिकता की प्रवृत्ति का बढ़ाव मानते हैं, तथा इसमें प्रगतिवादी सामाजिक यथार्थ की अनुभूति का विरोध मानते हैं। वस्तुतः कुछ प्रयोगवादी कवि भी इस वाद के कुछ निश्चित सिद्धान्तों का निरूपण नहीं कर सके हैं, कहीं-कहीं तो उनमें विरोधी बातें भी लक्षित होती हैं। इसीलिए प्रयोगवाद के सन्बन्ध में बड़ी आमक धारणाएँ फैली हुई हैं।

प्रयोग शब्द अंग्रेजी के 'एक्सपेरिमेंट' की तौल पर ही हिन्दी में चला था। वर्तमान युग विज्ञान-युग है और एक नवीन दृष्टि लेकर आया है जिसका नाम है 'प्रयोग दृष्टि' और कार्य है बौद्धिक विश्लेषण। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक युक्ति और तर्क द्वारा पदार्थों का विश्लेषण करता है उसी प्रकार प्रयोगवाद मानव के शरीर और मस्तिष्क-तत्त्व का विश्लेषण करता है। मानसिक भावनाओं का विश्लेषण करने के लिए वह अनेक प्रयोग करता है और उन्हें कविता में उतारता है। नवीन प्रयोगों के पक्षपाती प्रयोगशील कवि विभिन्न प्रकार से प्रयोग करके कविता का मार्ग निश्चित करना चाहते हैं। इस प्रयोग के भौके में बड़ा अनर्थ भी हो रहा है। प्रयोग के नाम पर बहुत सी निरर्थक रचनाओं से काव्य का कलेवर बढ़ रहा है, गुरुदम को प्रश्रय मिल रहा है और प्रयोग के आवरण में बहुत से नवीन कवि अपनी अज्ञमता को छिपा लेते हैं। वस्तुतः यथार्थवादी दृष्टि को प्रश्रय देने पर भी स्वानुभूति का अभाव होने के कारण अनिर्दिष्ट धारणाएँ फैल रही हैं, जो भी नया पुराना है वह प्रयोग के आवरण में है।

प्रयोगवाद का छोटा सा इतिहास है। इसका प्रारम्भ सन् ४३ में प्रथम 'तार सप्तक' के प्रकाशन से ही माना जाता है। इस 'तार सप्तक' में सात कवियों—गजानन मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र, भारतभूषण, प्रभाकर माचवे, गिरिजा-कुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अश्वेय की कविताओं का संग्रह हुआ है। इसके बाद प्रयोगवादी कविताएँ विभिन्न पत्रिकाओं में निकलती रहीं। सन् ४७ से प्रयोगवाद के प्रवर्तक कवि अश्वेय ने 'प्रतीक' पत्रिका द्वारा प्रयोगवादी साहित्य को बढ़ावा दिया। सन् ५१ में 'दूसरा सप्तक' कविता संग्रह निकला जिसमें भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर

बहादुरसिंह, नरेश मेहता, खुवीरसहाय और धर्मवीर भारती कविताएँ हैं। इधर 'पाटल' और हृदिकोण नामक मासिक पत्रिकाओं में भी प्रयोगवादी कविताओं को स्थान मिलने लगा है। इधर सन् १९५४ से डा० जगदीश गुप्त के सम्पादन में प्रयोगवादी कविताओं का एक अर्द्ध वार्षिक संग्रह निकलने लगा है जिसका नाम है नई कविता। प्रयोगवाद के सप्तक-परम्परा के अतिरिक्त अन्य कवि भी हैं जिनमें चन्द्रकुँवर वर्त्वाल, केदारनाथसिंह, सूर्यप्रताप, राजेन्द्र यादव प्रसिद्ध हैं। साथ ही सप्तक परम्परा के सभी कवि प्रयोगवादी नहीं हैं। इनमें रामविलास शर्मा तथा भवानीप्रसाद मिश्र तो पूर्णतया प्रगतिवादी ही हैं। प्रयोगवाद के प्रमुख कवि ये हैं—अज्ञेय, प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द्र, गजानन मुक्तिबोध, शमशेर, भारतभूषण, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, खुवीरसहाय और नरेश मेहता। यही प्रयोगवाद का अपना संक्षिप्त बारह-तेरह वर्षों का इतिहास है। इसकी थोड़ी सी पृष्ठभूमि भी है, उसका विचार हम आगे करेंगे।

हिन्दी में प्रयोगशील कविता एक प्रकार से छायावाद युग से ही लिखी जा रही थी। प्रसादजी ने 'प्रलय की छाया' और 'वरुणा की शान्त कछार' लिख कर वस्तु-तत्त्व और शैली एवं छन्द विषयक नवीन प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे। किन्तु वह मूलतः और पूर्णतया छायावादी थे अतः अपनी कला, कल्पना और अनुभूति के पृथक् मानदण्डों के कारण उनकी उक्त रचनाओं में शुद्ध प्रयोगवाद के दर्शन नहीं होते, केवल इसका पुट या चिह्न मिलता है। निरालाजी ने मुक्त छन्द और सामाजिक यथार्थ सम्बन्धी 'कुकुरमुत्ता', 'बेला', और 'नये पत्ते' में नवीन प्रयोग प्रस्तुत किए और प्रसाद की प्रयोगवादी प्रवृत्ति का विकास किया। निराला ने मुक्तछन्द के बहुत से प्रयोग किए हैं। प्रारम्भ में प्रयोगवाद में 'रूपवाद' या कलापक्ष का प्राधान्य था, परवर्ती कवियों ने उसमें युद्धोत्तर-कालीन मानवीय एवं व्यक्तिगत भावनाओं, व्यापक सौन्दर्य-बोध, विद्रोह, वैचित्र्य, तीव्र उद्गार और अतृप्त एवं अपूर्ण रागात्मकता इत्यादि प्रमुख भावपक्ष की प्रवृत्तियों का विकास करके इस काव्य की व्यापकता को बढ़ाया और इसे ठोस जीवन-दर्शन का आधार देने का प्रयत्न किया। प्रारम्भ में भगवती-चरण वर्मा, अज्ञेय, अशक और बाद में सुमित्रानन्दन भी इस क्षेत्र में आए

और आज तो बहुतेरे 'नई कविता' करने का प्रयास कर रहे हैं जिनमें गिरजा कुमार माथुर, नेमिचन्द्र, भारती, भारत भूषण, मुक्तिबोध, इत्यादि महत्वपूर्ण हो गए हैं। प्रयोगवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः प्रथम 'तार सप्तक' के प्रकाशन से ही इस वाद की कविता का सृजन प्रारम्भ हो गया था जिसका रूप-निखार एवं सिद्धान्त स्थापन सन् १९४७ में 'प्रतीक' के प्रकाशन से हुआ।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की काव्यधारा समानान्तर प्रवाहित हुईं और हो रही हैं। प्रारम्भ में ये धाराएँ एक-दूसरे से इतनी धुली-मिली थीं कि दोनों में पार्थक्य करना कठिन था। दोनों ही धारा के कवियों में तीन सामान्य प्रवृत्तियाँ थीं—(१) परिवर्तन प्रियता एवं विद्रोह की भावना, (२) बौद्धिकता का प्राधान्य और (३) नए प्रतीकों की ओर रुचि। इन दोनों धाराओं का यह मिश्रण एकरूपता का विधायक था, इसीलिए अज्ञेयजी की प्रारम्भिक 'जाग्रत अहं वाली' असामाजिक रचनाएँ 'हंस' पत्रिका में ठाकुर शिवदानसिंह चौहान के सम्पादकत्व में प्रगतिवादी कविताओं के नाम से प्रकाशित हुईं। इसका कारण यही था कि छायावाद के सूक्ष्म एवं वैयक्तिक दर्शन के स्थान पर विद्रोहात्मक स्वरों को वहन करने वाली सभी कविताओं को शुरू-शुरू में प्रगतिवादी माना जाता था। आगे चलकर इन दोनों का पार्थक्य बढ़ा। धीरे-धीरे यह स्पष्ट हुआ कि प्रयोगवादी रचनाओं के मूल में प्रगतिवादी सामाजिक यथार्थवाद के स्थान पर असामान्य चरित्रों के मनोविश्लेषण का प्राधान्य है और इसीलिए 'अहंवाद' का रूप बढ़ा प्रबल है। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' में असामान्य चरित्र का मनोविश्लेषण एवं अहंवाद अपनी चरम कोटि का है। इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से प्रयोगवाद पर लगाए जाने वाले इस आरोप का निराकरण हो जाता है कि वह केवल शिल्प-शैली के नवीन प्रयोगों को लेकर चलता है। प्रयोगवाद के मूल में भी समाजशास्त्रीय दर्शन है किन्तु वह वैयक्तिकता से एवं अहंवाद से अत्यधिक प्रभावित है। उस पर मार्क्स के स्थान पर फ्रायड और डार्विन का प्रभाव अधिक पड़ा है।

प्रगतिवाद से प्रयोगवाद का उक्त पार्थक्य किन परिस्थितियों में हुआ, यह भी विचारणीय है। प्रगतिवाद जब मार्क्सवादी-दर्शन एवं दलगत राजनीति से

बढ़ हो गया, उसमें मत के प्रचार का आग्रह प्रबल हो गया, राजनीति जागरूकता का प्राधान्य हो गया और सबसे अधिक मध्यवर्गीय जीवन व चेतना का प्रकाशन करते-करते कविगण जब गए तब उनमें अहंवाद एवं वैयक्तिकता की भावना आयी। इन भावनाओं को बढ़ाने वाला पाश्चात्य दार्शनिकों का प्रभाव भी महत्वपूर्ण है। इनमें फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद और डार्विन के अस्तित्ववाद का विशेष प्रभाव पड़ा। यूरोपीय साहित्य में मनो विश्लेषणवाद से प्रभावित दो प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास हुआ—एक प्रकृतिवाद या प्राकृतवाद (Naturalism) और दूसरा अतियथार्थवाद या अनियन्तुवाद (Surrealism)। प्रकृतिवाद को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मानवतावाद का विपरीतार्थक माना है। अतियथार्थवाद वे प्रमुख लेखक फ्रान्स के जोला का कथन है—“साहित्य में हमें मानव के माँस और मस्तिष्क का विश्लेषण करना है।” विश्वकवि वाल्ट व्हिटमैन का कथन है—“मैं आदि से अन्त तक शरीर विज्ञान गाता हूँ। मैं अपने शरीर पर कविता कलूँगा, अपनी अपूर्णता के गीत गाऊँगा, ताकि मैं पूर्णता और आत्मा तब पहुँच सकूँ।” इस कथन में काल्पनिक जगत का आश्रय खोजकर मन को संतुलित करने का दर्शन है जो पूर्णतया वैयक्तिकता एवं अहं भाव की अभिव्यक्ति करता है और सामाजिक यथार्थ का तिरस्कार करता है। प्राकृतवादी लेखकों में फ्रायड, युंग, एडलर का प्रभाव देखने योग्य है। इन्होंने मनुष्य की यौन वर्जनाओं को महत्व दिया। साहित्य का मूल मन्त्र ही इनकी दृष्टि में दमित वासना का प्रकाशन है। इन प्रवृत्तियों का विकास पाश्चात्य साहित्य में डी० एच० लारेन्स, बर्जिनिया बुल्फ, टी० एस० इलियट, जेम्स जोयस, स्ट्रैण्ड रसेल आदि की रचनाओं में देखा जा सकता है। इसका प्रधान रूप प्रसामाजिक एवं असामान्य चरित्रों का मनोविश्लेषण करके दमित एवं कुठित यौन वर्जनाओं को जीवन के मूल सत्य के रूप में उद्भासित करना है।

यूरोपीय साहित्य की मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित उक्त दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का हिन्दी के वर्तमान युग की कविता पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। प्रयोगवाद के प्रवर्तक कवि अज्ञेय डी० एच० लारेन्स, टी० एस० इलियट आदि से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। इसलिए यौन वर्जनाओं का उद्घाटन

एवं यौन संबंधी प्रतीकों की प्रचुरता प्रयोगवादी कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति है।

यहाँ तक प्रयोगवाद का ऐतिहासिक विवेचन एवं उस पर विदेशी साहित्य के प्रभाव का निरूपण हुआ। अब हम प्रयोगवादी कविता के विविध पक्षों का उद्घाटन करने वाले प्रमुख प्रयोगवादी आलोचकों के कथन प्रस्तुत करेंगे। धर्मवीर भारती प्रयोगशील काव्य की संभावनाओं की चर्चा करते हुए इसे स्वस्थ जनवादी कविता के प्रकार शृङ्खला की एक कड़ी मानते हैं।

धर्मवीर भारती ने प्रयोगशील कविता की महत्ता इन शब्दों में व्यक्त की की है—“जहाँ तक इस काव्य ने नई परिस्थितियों से प्रभावित नई अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये नये काव्य-रूप, नई कल्पनाएँ, नई गठन खोजी वहाँ तक यह काव्य निश्चय विकास और प्रगति में न केवल सहायक सिद्ध हुआ है वरन् वह एक बहुत महत्वपूर्ण चरण रहा है।”

श्री रामेश्वर शर्मा ने प्रयोगवाद के जन्म का कारण बदलती हुई परिस्थिति में सामाजिक गतिक्रम को व्यक्त करने के लिए प्राचीन रुढ़ एवं परम्परा-बद्ध अभिव्यंजना पद्धति की अक्षमता को माना है। उनका मत है कि प्राचीन रुढ़ियों और संस्कारों से जब मनुष्य को एक प्रकार की ऊब हो जाती है तब वह नवीनता की चाह करता है। इस कारण जीवन और सौन्दर्य के मानदण्ड भी बदलते हैं, जैसे छायावाद का सूक्ष्म भाव-सौंदर्य-दर्शन प्रगतिवाद-युग में सामाजिक-यथार्थ-दर्शन की भूमिका पर उतर आया।

श्री रामेश्वर शर्मा ने प्रयोगवाद की उत्पत्ति के मूल कारणों पर प्रकाश डाला है। संक्षेप में उनका मत इस प्रकार है—

१—जब कोई प्राचीन जीवन एवं सौंदर्य का मानदण्ड रुढ़िबद्ध हो जाता है तब मानव मन नवीन मानदण्डों का निर्माण करता है।

२—इन नवीन मानदण्डों से नवीन मान्यताएँ, नवीन सामाजिक क्रम तथा अन्य प्रकार से नवीनता का प्रादुर्भाव होता है और उसका प्राचीनता से संघर्ष होता है।

३—कोई भी साहित्य सामाजिक क्रम से कदम मिलाकर नहीं चलता तो पिछड़ा जाता है। इसलिए साहित्य में भाव के क्षेत्र में नूतनता शीघ्र ही प्राप्ति

हो जाती है।

४—शैली के क्षेत्र में प्राचीन रूढ़ एवं परम्परा बद्ध अभिव्यंजना पद्धति जब नवीन भावनाओं को पूर्ण एवं सही रूप में अभिव्यक्त करने में सक्षम नहीं होती तो लेखक या कवि के मानस में एक संघर्ष पैदा होता है।

५—लेखक या कवि के हृदय में नवीन वस्तु और प्राचीन शैली के संघर्ष के फलस्वरूप भावाभिव्यंजना के क्षेत्र में नवीन प्रयोग होते हैं। प्रयोगवाद की नई कविता का जन्म इन्हीं कारणों से हुआ।

६—प्रयोगवादी कविता उक्त नवीन वस्तु एवं प्राचीन शैली के संघर्ष के फल-स्वरूप उद्भूत हुई इसीलिए उसमें नवीन शिल्प का आग्रह है और भावाभिव्यंजना में सक्षम नवीन प्रतीक एवं उपमानों का ग्रहण।

अज्ञेय जी ने 'तार सप्तक' की भूमिका में भाव के क्षेत्र में नवीनता के ग्रहण को प्राथमिकता नहीं दी, क्योंकि यह तो किसी भी जीवंत साहित्य का मूल लक्षण है। उन्होंने कविकर्म या अभिव्यक्ति की समस्या को ही प्राथमिकता दी है जिसका संस्कार भावपक्ष में नूतनता का संस्कार हो जाने के बहुत बाद में होता है। इस कथन को कुछ लोग ले उड़े और प्रयोगवाद का तात्पर्य शिल्प शैली के क्षेत्र में नवीन-नवीन प्रयोग मानने लगे।

डा० देवराज ने इस नई कविता का उद्भव एवं विकास इस प्रकार दिखाया है। उनका कहना है कि पुरानी कविता रूढ़िग्रस्त एवं अरोचक हो उठी है, दूसरे काव्य-भाषा को जन-भाषा के निकट लाना है अथवा काव्य निबद्ध अनुभूति को जन-जीवन के सम्पर्क में लाना है, तीसरे, बदले हुए जीवन की नई सम्भावनाओं के उद्घाटन के लिए, अथवा नए मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए नवीन प्रयोग करने हैं। इसीलिए "नयी शैली का अर्थ है जीवन या अनुभव-जगत के नए पहलुओं को नई दृष्टि से देखना और उन्हें नए चित्रों, प्रतीकों, अलंकारों द्वारा अभिव्यक्ति देना।" इस प्रकार सामाजिक यथार्थ अथवा जन-जीवन को लेकर चलने वाला प्रयोगवाद इस समय अभिव्यंजन शैली की समस्या हल कर रहा है। इसी अर्थ में वह इलियट, पाउण्ड आदि

की शैली से प्रभावित है। और इन्हीं प्रयोगों में कहीं वह सफल होता है तो अन्यत्र असफल लेकिन निर्भरिणी के समान पर्वतीय मार्ग में गिर उठकर वह प्रगति और विकास के पथ में अग्रसर हो रहा है, इसमें सन्देह नहीं। इसी विकास क्रम में संभवतया कहीं-कहीं कवि शिल्प-शैली की समस्या से इतना उलझा हुआ प्रतीत होता है कि नवीन भावनाओं का रंग भी फैलकर उसे बिगाड़ देता है; और इससे हिंदी के कुछ आलोचक चौंक जाते हैं।

अज्ञेय जी प्रयोगवाद के सैद्धान्तिक पक्ष का उद्घाटन करते हुए कहते हैं—“प्रयोगशील कविता में नए सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नए रागात्मक सम्बन्ध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है।” अन्यत्र अज्ञेय जी कहते हैं कि “इसलिए वह (कलाकार) व्यक्ति सत्य को व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है।”

गिरिजाकुमार माथुर नवीन प्रयोगों के लक्ष्य की चर्चा करते हैं—“प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक सत्य के खंड अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना जिसमें ‘व्यक्ति’ द्वारा इस ‘व्यापक’ सत्य का सर्वबोधगम्य प्रेषण संभव हो सके।”

श्री हंसकुमार तिवारी ने प्रयोगवाद की त्रुटियों का परिहार करते हुए कहा है “वर्तमान युग प्रेरणाओं के प्रयोग का युग है। इसीलिए इसमें त्रुटि है, अभिनय है, असंयम है। जब इसकी गवेषणा खत्म हो जायगी और निष्कर्ष हो जायगा, तो साहित्य की गङ्गा आश्विन की धारा सी संयत और निर्मल हो जायगी। यही विद्रोह फिर शृङ्खला हो जायगी। इसीलिए हमें सनातन परिपाटी के ध्वंस का रोना नहीं रोना चाहिये।”

कुछ आलोचकों एवं कवियों ने प्रयोगवाद की धारा को अस्वस्थ बतलाया है और उसके प्रति अपना जोर प्रकट किया है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयीजी प्रयोगवाद के विरोधी हैं। वे प्रयोगमात्र का साहित्य-क्षेत्र में कोई स्थान नहीं मानते, इसलिए उनकी दृष्टि में ये वैचित्र्यप्रिय, अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त एवं वृत्ति के सहज अभिनिवेश से शून्य प्रयोगवादी रचनाएँ अनुभूति की ईमानदारी से रहित हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करती।

इसलिए उन्होंने अपना कैसला सरपंच की हैसियत से सुना दिया—“किसी भी अवस्था में यह प्रयोगों का बाहुल्य वास्तविक साहित्यिक-सृजन का स्थान नहीं ले सकता।” इसीलिए उनकी दृष्टि में ‘प्रयोगवादी रचनाएँ पूरी तरह काव्य की चौहद्दी में नहीं आतीं।’ इस प्रकार की प्रतिक्रियात्मक आलोचना से प्रयोगवादी कविता का ऐतिहासिक महत्व कम नहीं हो जाता।

प्रयोगवादी कविता के सिद्धान्त पक्ष का उद्घाटन करते हुए हमने उसके विविध प्रकार के आलोचकों की विचारधारा का भी संक्षेप में परिचय दिया। उक्त विस्तृत विवेचन का लक्ष्य है, इस ‘नई कविता’ के सम्बन्ध में विविध दृष्टिकोणों से पाठक का साक्षात् परिचय कराना और इसीलिए प्रमुख आलोचकों के मतों की उद्धरण की गई है। उपरोक्त विवेचन से प्रयोगवादी कविता के भावपक्ष एवं कलापक्ष की स्थिति स्पष्ट हो चुकी है। अब हम प्रयोगवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का स्वरूप विवेचन उसकी अपनी कविता के आधार पर करेंगे।

प्रयोगवादी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

१—कल्पनाशीलता के स्थान पर यथार्थवाद का आग्रह-छायावाद में कल्पनाशीलता का प्राधान्य था, प्रगतिवाद में सामाजिक-यथार्थ अथवा वास्तविक-यथार्थवाद की प्रवृत्ति थी और प्रयोगवाद में अतिथार्थवादी प्रवृत्ति की प्रचुरता लक्षित होती है। छायावादी कल्पना में प्रकृति के अनेक रंग रूपों को उदात्त रूप प्रदान किया गया। प्रगतिवाद में सामाजिक यथार्थ की प्रवृत्ति की प्रचुरता रही। प्रयोगवादी कविता में फ्रायड्जीन मनोविश्लेषण के प्रभाव से नग्न यथार्थवाद या अतिथार्थ का चित्रण हुआ। प्रयोगवाद की यथार्थ की प्रवृत्ति की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ हैं—

(i) सामाजिकता का अभाव—प्रगतिवादी समाज कल्याण या वास्तविक यथार्थवाद के आदर्श को लेकर नहीं चलते। वस्तुतः ये व्यक्ति के समाज में चलते हुए देखने के अभ्यासी नहीं हैं वरन् अपनी वैयक्तिक कुरूपता का प्रकाशन करके समाज के मध्यवर्गीय मानव की दुर्बलताओं का प्रकाशन करते हैं। इसी लिए कहीं-कहीं प्रयोगवादी कवि अपनी यथार्थवादिता एवं ईमानदारी दिखाने के लिए यौन वर्जनाश्रों एवं कुंठित वासनाश्रों का चित्रण

करते हैं तथा अन्य ऐसे ही कौशलों का सहारा लेते हैं जिनसे उनके मन की नग्न एवं अश्लील मनोवृत्तियों का यथार्थ चित्रण होता है। उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

इन कवियों की व्यक्तिवाद की अराजकता सबसे अधिक नारी के प्रति अभिव्यक्त की गई भावनाओं में मिलती है। आरसीप्रसाद नारी को नागिन और बाधिन के रूप में चित्रित करते हैं—

आओ मेरे आगे बैठो
जैसे बैठी होती काली
काली नागिन दो जिह्वा वाली.....
उगल्लो जहर ओंठ पर.....

× × ×

जैसे बैठी होती नागिन
लगता हो

अब ऋपटे मानों अब निगले।

दमित वासनाओं की कुंठा का चित्र भी देखिए। अज्ञेय ने वासना की छाया का वर्णन अपने 'चिन्ता' काव्य में किया है—

‘छाया छाया तुम कौन ?

ओ श्वेत, शान्त घन अवगुंठन ! तुम कौनसी आग की तड़प
छिपाये हुये हो ?

ओ शुभ्र शान्त घन परिवेष्टन तुम्हारे अन्तर में कौनसी बिजलियाँ सोती
हैं।’.....

वह है मेरे अन्तरतम की भूख।”

(ii) कल्पनाशीलता की प्रतिक्रिया—छायावादी कवियों ने प्रकृति के चिर-परिचित उपमानों को अपनी उदात्त कल्पना से संजोकर वातावरण में बड़ी मृदुता पैदा कर दी थी, प्रयोगवादी कवि उसकी क्षुद्रता उद्घाटन करने में ही अपनी यथार्थवादिता का परिचय देता है। अज्ञेय ने छायावादी शीतल चाँदनी का उपहास एवं बौद्धिकता का नग्न यथार्थ ‘शिशिर की राका निशा’ कविता में दिखाया है—

वंचना है चांदनी सित

भूठ वह आकास का निरवधि गहन विस्तार

शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !

दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता, वह

शून्य के अवलेप का प्रस्तार—

इन कवियों को रंगीन आवरण में छिपी कुरूपता का दर्शन भी होता है। यही नग्न यथार्थवाद का रूप है। जहाँ भी ये अपनी यथार्थवादी पैनी दृष्टि फैकते हैं वहीं कुरूपता खोज निकालते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार यह मन की निम्नतम और अवचेतन की पार्श्विक प्रवृत्तियों का अनियंत्रित उद्रेक है। उक्त कविता में ही आगे कवि को जो दिखलाई पड़ता है वह उसकी उक्त प्रकार की मानसिक प्रक्रिया का सूचक है—

इधर-कँवल भल मिलाते

चेत-हर, दुर्धर कहासे की हलाहल-स्निग्धमुट्ठी में

सिहरते-से पगु, दुँडे

नग्न, बुच्चे दहमारे पेड़।

(iii) लघुता के प्रति दृष्टिपात—छायावादी कवि ने अपनी उदात्त कल्पना के सहारे प्रकृति तथा वस्तु जगत की लघु वस्तुओं का सजीव वर्णन किया तथा मानवीय सूक्ष्मभावों का मूर्तिकरण किया। प्रगतिवादी कवियों ने पहली बार मानव जगत के लघु और लुप्त प्राणियों को उच्च मानव के रूप में चित्रित किया। उनके जीर्ण-शीर्ण रूप में मानवीय सौन्दर्य का उद्घाटन उनकी अपनी विशेषता थी। प्रयोगवादी कवियों ने अपनी असामाजिक एवं अंधवादी प्रकृति के अनुरूप ही मानव जगत के लघु और लुप्त प्राणियों पर साहित्यिक दृष्टिपात करके प्रकृति और यंत्र-जगत् की लघु वस्तुओं को अपने काव्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया। इसी लिए कविता में पहली बार 'कंकरीट के पौँचे', 'चा की प्याली', सायरन, रेडियम की घड़ी, चूड़ी का टुकड़ा, वाथरूम, क्रोशिए, गरम पकौड़ी, बाँस की टूटी हुई टट्टी, फटी ओढ़नी की चिन्दियाँ मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में तीन टाँगों पर खड़ा नतग्रीव धैर्यवान गदहा', बुच्चे दहमारे पेड़ इत्यादि का चित्रण हुआ। रात के इस चित्रण में

यह प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है—

ठंडी हो रही है रात,
धीमी यंत्र की आवाज,
रह रह गूँजती अज्ञात ।
स्तब्धता को चीर देती है,
कभी सीटी कहीं से दूर इंजन की,
कहीं मच्छर तड़फ भन भन अनोखा शोर करते हैं,
चूहे भूखे निकलकर तोड़ ताबड़ जोर करते हैं ।

(iv) बौद्धिकता की प्रतिष्ठा—प्रयोगवादी कवियों ने भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की प्रतिष्ठा की । धर्मवीर-भारती ने इस बौद्धिकता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है प्रयोगवादी कविता में भावना है, किन्तु हर भावना के सामने एक प्रश्न चिन्ह लगा हुआ है । इसी प्रश्न-चिन्ह को को आप बौद्धिकता कह सकते हैं । साँस्कृतिक ढाँचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न-चिन्ह उसी की ध्वनिमात्र है ।” और इस बौद्धिकता की प्रतिष्ठा क्यों हुई है यह डा० जगदीश गुप्त के शब्दों में सुन लीजिए—

“वह (नई कविता) उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को लक्षित करके लिखी जा रही है जिनकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना नए कवि के समान है…… । बहुत अंशों में नई कविता की प्रगति ऐसे प्रबुद्ध भावुक वर्ग पर आश्रित रहती है ।” अज्ञेय की ‘हरी घास पर क्षणभर’ कविता में भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की प्रतिष्ठा हुई है जिसमें कवि स्वयं ही अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए समाज की शंका को प्रकट कर देता है क्योंकि वह धुँधले में किसी के साथ दुबका बैठा है—

चलो, उठें अब,

अब तक हम थे बन्धु

सैर को आए—

और रहे बैठे तो

लोग कहेंगे

धुँधले में दुबके दो प्रेमी बैठे हैं ।

वह हम हों भी

तो यह हरी घास ही जाने ।

कवि का हृदय समाज से भयभीत है क्योंकि वह अपनी भावुकता को भूलकर बौद्धिकता के विशेष तर्कवाद को अपना चुका है जिसका रूप इन शब्दों में है—‘दुनिया सोच सकती है’, ‘कोई न जाने क्या सोचे’ इत्यादि । ऐसा क्यों है ? क्योंकि यह कवि सामाजिकता से दूर अपनी अलग खिचड़ी पका रहा है और मनोविज्ञान के ‘रैशनलाइजेशन’ सिद्धान्त से अपनी व्यक्ति-वादिता की अराजकता को, अपनी स्वच्छन्दता को एक स्वस्थ व्यवहार सिद्ध करना चाहता है । वस्तुतः यह उसकी एकाकी जीवन की हीनता की भावना और स्वच्छन्दता का संघर्ष है जो बौद्धिकता (तर्कवाद) या रैशनलाइजेशन को लेकर प्रच्छन्न रूप में प्रकट हुआ है ।

(२) प्रेम का स्वरूप—प्रयोगवादी काव्य में प्रेम का शाश्वत स्वरूप मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित है । उसमें साधनात्मक प्रेम का अभाव है और माँसल प्रेम एवं दमित वासना की अभिव्यक्ति की प्रचुरता है । प्रयोगवादी कवि अपनी ईमानदारी अपनी यौन वर्जनाओं के चित्रण में प्रदर्शित करता है । इस प्रकार मनोविश्लेषण-विज्ञान का प्रयोगवादी कवि पर सबसे बड़ा प्रभाव यह पड़ा कि वह सेक्स अथवा कामप्रवृत्ति को समस्त मानव प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं का केन्द्र बिन्दु स्वीकार कर सका । अज्ञेय ने ‘तार सप्तक’ की भूमिका में भी इस बात को स्वीकार किया था कि आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति सेक्स सम्बन्धी वर्जनाओं से आक्रान्त है ; उसका मस्तिष्क दमन की गई सेक्स की भावनाओं से भरा हुआ था । इसलिए उसकी सौन्दर्य-भावना भी सेक्स से पीड़ित है । और यही कारण है कि प्रयोगवादी कवि में न तो प्रेम का सामाजिक रूप है, न रहस्यात्मक-आवरण वाला और न छायावाद का सा सूक्ष्म एवं भावनात्मक । अज्ञेयजी ने प्रेम की सरलता एवं स्वच्छता के अभाव का कारण धार्मिक और मानसिक संस्कारों को बताया है । वस्तुतः यह मनोविश्लेषणवाद का ही प्रभाव है । प्रयोगवादी कवि की वासना बादलों को देखकर उद्दीप्त हो उठती है और वह अपनी दमित वासना को अपनी तथाकथित

अतिथार्थवादिता के कारण प्रकट कर देता है—

आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—

धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार—

प्यार है, अभिशप्त

तुम कहाँ हो नारि ?

(३) विद्रोह का स्वर—कला के क्षेत्र में छन्द-विधान तथा भाषा शैली के प्रति विद्रोह हुआ और भावक्षेत्र में प्राचीन रूढ़ियों का परित्याग कर दिया गया है। इसका कारण युद्धोत्तरकालीन मध्यवर्ग की जर्जर अवस्था है। मध्यवर्ग ने ही विद्रोह किया और इसी को प्रकट करने के लिए तीव्र उद्गार व्यक्त किए। सामाजिक परिस्थिति की उलझन का जो स्वर कुकुरमुत्ता में मुखरित हुआ था वह आज भी विद्यमान है। अज्ञेय की कविता में आतातायी सामाजिक परिवेश को चुनौती है—

ठहर, ठहर, आततायी ! ज़रा सुन ले

मेरे क्रुद्ध बीर्य की पुकार आज सुन जा

(जनाहानःइत्यलम)

साहित्यिक परम्परा के प्रति भी यह विद्रोह की भावना बड़ी व्यापक है। अजितकुमार की 'कवियों का विद्रोह' शीर्षक कविता प्रयोगवादी साहित्यिक परम्परा के विद्रोह की प्रवृत्ति का बड़ा सुन्दर रूप प्रस्तुत करती है—

“चाँदनी चन्दन सदृश”

हम क्यों लिखें ?

मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें ?

हम लिखेंगे :

चाँदनी उस रुपये सी है कि जिसमें

चमक है पर खनक गायब है।

हम कहेंगे जोर से :

मुँह घर—अजायब है

(जहाँ पर बेतुके, अनमोल, जिन्दा और मुर्दा

भाव रहते हैं ।)

४—अतृप्त रागात्मकता—प्रयोगवाद में, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, विद्रोह के तीव्र उद्गार प्रकट हुए हैं। इस कारण कवियों की रागात्मकता को प्रस्फुरण का अवकाश नहीं मिल पाया। इसीलिए इन कवियों में अतृप्त रागात्मकता के दर्शन होते हैं। इन कवियों के प्रयोग की दिशा भी पूर्णतया निश्चित नहीं हुई है अतः उनकी रागात्मक वृत्ति पूर्ण तृप्त नहीं हो पायी है। अज्ञेयजी की 'प्रथम किरण' कविता इस प्रवृत्ति की सुन्दर उदाहरण है। वस्तुतः इसी प्रवृत्ति के कारण प्रयोगवादी कविता में कहीं-कहीं अस्पष्टता घनीभूत हो गई है। शमशेर की 'शरीर स्वप्न' शीर्षक कविता में इस प्रवृत्ति को देख सकते हैं—

मकई से लाल गोहूँए तलुए
मालिश से चिकने हैं, ...
सूखी भूरी झाड़ियों में व्यस्त
चलती-फिरती पिंडलियाँ।
: मोटी डालें, जाँघों से न अड़े : :
सूरज का आइना जैसे न दिया
इन मर्दानी रानों की चमक
'इन' को खूब पसन्द।.....

(५) वैचित्र्य प्रदर्शन—अधिकतर प्रयोगवादी कवि वैचित्र्य प्रदर्शन को लेकर चले हैं, उनमें वृत्ति का सहज संयोजन प्रायः नहीं मिलता है। कहीं-कहीं यह उनकी मानसिक उलझन को व्यक्त करता है। वर्णन वैचित्र्य के साथ-वर्ण्य वैचित्र्य भी दृष्टव्य है। अज्ञेय की 'हवाई यात्रा' नामक कविता में इस प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। कहीं-कहीं यह वैचित्र्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ी हास्यास्पद है। इसमें उनका लक्ष्य केवल दिलचस्पता, आश्चर्य एवं दुरुहता से अपनी नूतनता प्रकट करना ही प्रतीत होता है। इस प्रवृत्ति का एक सटीक उदाहरण देखिए—

“अगर कहीं में तोता होता !
तो क्या होता ?
तो क्या होता ;

तोता होता ।

(आह्लाद से भूमकर)

तो तो तो तो ता ता ता ता

(निश्चय के स्वर में)

होता होता होता होता ।'

इस कविता में वृत्ति का अभिनिवेश नाममात्र को नहीं है केवल वर्ण्य और वर्णन का वैचित्र्य प्रदर्शन हुआ है ।

(६) व्यापक सौन्दर्य—सौन्दर्यवाद एक शाश्वत प्रवृत्ति है जो युगानुरूप प्रतीकों एवं भाषा शैली के माध्यम से प्रत्येक युग के साहित्य में प्रकट होती है । छायावाद को प्रसाद जी सौन्दर्य की शाश्वत प्रवृत्ति का युगानुरूप प्रकाशन मानते हैं । प्रगतिवाद में सौन्दर्य बोध के मानदण्ड बदले और क्षुद्र तथा निम्नस्तर के मानव जगत् में सौन्दर्य का बोध उद्घाटित हुआ । प्रयोगवादी कवि और आगे बढ़ा । अब सौन्दर्य का विस्तार बाँस की टूटी हुई टट्टी, कर्करीट के पोर्च, खम्भे से लटकती आदनी की दो चार चिन्दियाँ तक हो गया और इससे भी आगे बढ़कर मूत्रसिंचित मृत्तिका के वृत्त में तीन टाँगों पर खड़ा नतप्रीव धैर्यवान गदहा भी इन कवियों के सौन्दर्य बोध में आ जाता है । अति-उपेक्षित वस्तु या स्थान का बड़ा सौंदर्यपूर्ण वर्णन करना इन कवियों की विशेषता है । मेघगज इन्द्र की 'हवा चली' कविता में इस प्रवृत्ति को देखिए—

“हवा चली ।

झिपकली की टाँग

मकड़ी के जाले में फँसी रही—फँसी रही ।”

×

×

×

आगे कवि मैले की टोकरी ले जाती हुई मेहतरानी को भी डटकर देखता है—

“वाटिका सड़ उठी,

चिड़िया उड़ गई,

कुत्ता दुम दबा कर भागा

किन्तु—

अचम्भे के बच्चे सा चौंकाने वाला साहित्य की लालसा लिए मेरा कवि डटा—सटा रहा ।

दुनियाँ ने कवि को टोका, समझाया मगर वह नहीं माना ।

“बोला मैं—खबरदार मुझसे मत कहना कुछ ।

(७) शैली-शिल्प की नवीन मान्यताएँ—बहुत से आलोचक तो प्रयोगवाद को शैली-शिल्प के नवीन प्रयोगों तक ही सीमित मानते हैं । अज्ञेय जी भी कविकर्म की इस मौलिक समस्या को प्राथमिकता देते हैं । वस्तुतः नूतनता का प्रवेश भावपक्ष के अन्तर्गत बहुत पहले हो जाता है और पीछे धीरे धीरे शैलीगत रुढ़ियों और परम्पराओं का बहिष्कार होता रहता है और नवीन अभिव्यंजना पद्धति का विकास होता है । इस क्षेत्र में प्राचीनता के बहिष्कार और नूतनता के प्रवेश के बीच के समय में विविध प्रयोग होते रहते हैं । प्रयोगवाद के मूल में भी नवीन शैली शिल्प का आग्रह स्पष्ट है ।

प्रयोगवादी कवियों ने भाषा और शैली शिल्प के विविध प्रयोग किये हैं । इसकी प्रमुख विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों का निरूपण हम नीचे करेंगे—

(i) प्रतीक-विधान—प्रयोगवादी काव्य में यौन वर्जनाओं की अभिव्यक्ति अधिकतर प्रतीकों के माध्यम से हुई है । अन्य प्रकार की दमित इच्छाओं एवं वर्जनाओं की अभिव्यक्ति के लिए विविध प्रकार के प्रतीकों का विधान है । इसी प्रकार बहुत सी मानसिक उलझनों की अभिव्यक्ति के लिए भी प्रतीक पद्धति का विधान मिलता है । वस्तुतः प्रयोगवादी कविता में प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग देखकर ही इसे कुछ लोग प्रतीकवाद के नाम से पुकारते हैं । प्रयोगवादी कविता में प्रतीकों का अत्यन्त सांकेतिक वर्णन मिलता है, किन्तु इनके प्रतीक छायावाद की तरह प्रकृति से लिए हुए नहीं हैं वरन् अवचेतन मन की भावनाओं से लिए हुए हैं, अतः कहीं-कहीं बहुत ही दुरुह हो गए हैं । साथ ही कुछ ऐसे नवीन प्रतीकों की उद्भावना भी हो रही है जिनसे भाव और विचार का किसी प्रकार का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता ।

पहले यौन वर्जनाओं के प्रतीकों की बात लीजिए । अज्ञेयजी के अनुसार ‘आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति भी यौन वर्जनाओं का पुत्र है ।’ इसीलिए अज्ञेयजी की प्रारम्भिक कविताओं में ‘यौन प्रतीकों’ का आधिक्य था और

अब भी वे इससे पूर्णतया मुक्त नहीं हैं। गिरिजाकुमार माथुर और शमशेर की कविता में भी ये प्रतीक प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। अश्वेय जी की 'सावन-मेघ' कविता में यौन प्रतीकों का व्यवहार देखिए—

घिर आया नभ, उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहृत चिरातुर
झा गया इन्द्र का नील वक्षः.....

और इन्द्र का नील वक्ष जिस धरती के वक्ष से मिला है वह भी—

स्नेह से आलिप्त
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल
बद्ध
वासना के पंक सी फेली हुई थी
सत्य सी निर्लेज, नंगी
और समर्पित।

अश्वेयजी की यह प्रवृत्ति आज भी उनकी कविताओं में मिल जाती है—

सो रहा है झोंप आँधियाला
नदी की जाँघ पर.....
दो पँखुरियाँ

भरी लाल गुलाब को, तकतीं पियासी
पिया-से ऊपर झुके उस झूल को

इस प्रकार इन यौन प्रतीकों के माध्यम से प्रयोगवादी कवियों ने अपनी नग्न-यौन-भावना की अभिव्यक्ति की है। यह सांकेतिक वर्णन यथार्थ की कटुता और नग्नता से बचने के लिए है।

स्वप्न के प्रतीक अश्वेय और शमशेर दोनों में मिलते हैं। शमशेर की 'शरीर स्वप्न' शीर्षक कविता और अश्वेय का 'चार का गजर' स्वप्न प्रतीक का उदाहरण है। इसी प्रकार अन्य प्रकार की वर्जनाओं एवं भावनाओं के प्रतीक मिलते हैं। प्रयोगवादी कविता में 'नदी के द्वीप' का प्रतीक बहुत प्रचलित हुआ। अश्वेय ने इसे लेकर एक कविता लिखी, फिर तो भारती ने भी इसे अपनाया।

सर्वेश्वर ने 'घास काटने की मशीन' के खतरे बतलाकर इसी प्रतीक का अर्थ प्रकट किया ।

इसी प्रकार प्राचीन प्रतीक जैसे प्रकाश के लिए दीप, मशाल एवं तारा के स्थान पर अब वह 'टॉर्च' आदि नवीन प्रतीकों का प्रयोग करता है—

सघन जीवन निशा विद्युत लिये मानो
अँधेरे में बटोही जा रहा हो टॉर्च ले....

प्रयोगवादी प्रतीकात्मक शैली में छायावादी लाक्षणिक वक्रता के स्थान पर सांकेतिकता का आधिक्य है । कहीं-कहीं सुन्दर व्यंजनाएँ भी मिलती हैं । जैसे हरिव्यास की एक कविता में—

मत करो गन्दी अरे जन जाह्नवी पोखर बनाकर
तुम उसे फिर सृजन की राह पर लाओ ।
भगीरथ
लक्ष्य तक फैली डगर के कंटकों के डंक तोड़ो
कन्दरा के गर्भ में व्याकुल विलखता है तुम्हारा विश्व
तुम उसे विश्वास दो ।
इन्सानियत की ज्योति दो !

(ii) नवीन उपमान—प्रयोगवादी कवियों ने छायावादी उपमानों के प्रति प्रतिक्रिया की । आज की नवीन परिस्थितियों में प्राचीन रूढ़ उपमान भावनाओं को पूर्ण एवं सही रूप में अभिव्यक्त नहीं कर पाते । इसीलिए नवीन-नवीन उपमान व्यवहृत हुए । कहीं-कहीं तो यह नूतनता का मोह ही है—

मेरे सपने इस तरह टूट गये
जैसे भुँजा हुआ पापड़ ।

कहीं-कहीं नवीन उपमाओं का संयोजन बहुत सुन्दर एवं भाव की प्रेषणीयता लिए हुए है जैसे गिरिजाकुमार की इस कविता में—

जीवन में लौटी मिठास है ।
गीत की आखिरी मीठी लकीर सी ।

वैभव की वे शिलालेख-सी यादें आतीं ।

एक चौदनी भरी रात उस राजनगर की ।

रनिवासों की नंगी बाँहों सी रंगीनी ।

वह रेशमी मिठास मिलन के प्रथम दिनों की ।

इस कविता में जीवन की मिठास की उपमा 'गीत की आखिरी मोठी लकीर' से, पूर्व स्मृतियों की 'शिलालेख' से, रंगीनी की 'रनिवासों की नंगी बाँहों' से, मिलन की मधुरता की 'रेशमी मिठास' से दी गई है, जो बहुत ही स्वाभाविक एवं पूर्णतया नूतन हैं। आज कवियों ने छायावादी उपमानों को छोड़कर नवीन उपमानों अपना लिये हैं।

(iii) शैली के नवीन प्रयोग—प्रयोगवादी कवियों ने शैली के अनेक नवीन प्रयोग किए हैं और ऐसा करने में कहीं-कहीं भाव बिलकुल लुप्त हो गया है केवल विलक्षणता एवं दुरुहता ही पाठकों के पल्ले पड़ती है। जैसे उपरोक्त—'अगर कहीं मैं तोता होता !' कविता में। शमशेर की निम्न कविता में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है—

खामोश

हो ;

होश.....न खो ;

रो, मगर—जी ।

जिन्दगी संसार की आखिर

तू ही ।

ओ साबिर

खिला परवर यह

बे - रूही

आखिर

वह भी है

तू - ही !

तू - हो !

तू - ही !

इसी प्रकार शमशेर की 'सावन की उनहार' कविता में लय का चमत्कार है, वृत्ति का अभाव है। कहीं-कहीं किसी चित्र-विशेष से आकर्षित होकर भी इन्होंने कविता की है। अज्ञेय और मुक्तिबोध ने भी कुछ नवीन शैली के प्रयोग किए हैं। इन्होंने अपनी कविता में कहीं-कहीं दस-दस पंक्तियों में एक ही वाक्य की योजना की है, जैसे मुक्तिबोध का निम्नलिखित लम्बा वाक्य—

यह परस्पर की मृदुल पहचान जैसे
अतलगर्भा भव्य धरती हृदय के निज कूल पर
मृदु स्पर्श कर पहिचान करती, गूढ़तम उस विशद
दीर्घच्छाय श्यामल - काय बरगद वृक्ष की
जिसके तले आश्रित अनेकों प्राण,
जिसके मूल पृथ्वी के हृदय में टहल आए, उलझ आए।

प्रयोगवादी कवियों की शैली की एक विशेषता चित्रात्मकता है। गिरिजा कुमार माथुर की 'शाम की धूप' कविता देखिए—

“क्योंकि अब बन्द होगए दफ्तर,
घंटियाँ बज रहीं हैं रिक्शों की,
बीसियों साईकिलों की पाँतें,
कैरियर टोकरी या हैंडिल में
कुछ के खाली कटोरदान बँध,
कुछ में हैं फाइलें हर छिन भूखी
जो न कभी खत्म हुई आफिस में।”

(iv) शब्द चयन—प्रयोगवादी कवि भाषा की दृष्टि से भी नवीन प्रयोगों के पक्षपाती है। इन्होंने अपनी कविताओं के लिए विविध स्थानों से शब्दों का चयन किया है जैसे विज्ञान, दर्शन, भूगोल, मनोविश्लेषण-शास्त्र, एवं मनोविज्ञान, ग्रामीणबोली, बाजारु बोली आदि से। इसलिए कहीं-कहीं प्रादेशिक शब्दों से और शब्दों की तोड़ मरोड़ से इनकी भाषा में भ्रमशयन आ गया है जैसे— गोरियाँ, छोरियाँ, भोरियाँ आदि में। प्रारंभ में तो प्रयोगवादी

कवि बहुत क्लिष्ट पद योजना करते थे जैसे अश्वय की इस कविता में—

निविडान्धकार

का मूर्त रूप दे देने वाली

एक अकिंचन, निष्प्रभ अनाहूत

अज्ञात द्युति किरण

आसन पतन..... आदि ।

किंतु अब धीरे-धीरे भाषा के सरलीकरण एवं भ्रमसपन की ओर इन कवियों का ध्यान आकर्षित हो रहा है ।

(v) छन्द योजना—प्रयोगों का कहीं अन्त नहीं है । छन्द का क्षेत्र भी अछूता नहीं है । इन कवियों ने कहीं-कहीं लोकगीतों की धुन पर गीत गढ़े हैं तो कहीं-कहीं मुक्त छन्दों में नई-नई लय और नये-नये स्वर मिलते हैं और कहीं-कहीं तो छन्द लय के स्थान पर वर्ण-विषय की भावनाओं के अनुसार चलित है जैसे शमशेर की उपरोक्त कविता ^१ में । लोक गीत की शैली पर लिखा यह गीत बड़ा सुन्दर है—

पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री ।

हरियाली छा गई हमारे सावन सरसा री ।

बादल छाये आसमान में धरती फूली री,

अरी सुहागिन भरी माँग में भूली भूली री ।

इसी प्रकार नरेश मेहता के गीतों में बड़ी गीतात्मकता है, देखिए—

चलते चलो चलते चलो ।

सूरज के संग-संग चलते चलो, चलते चलो ।

तम के जो बन्दी थे,

सूरज ने मुक्त किये

किरणों ने गगन पोंछ

धरती को रंग दिये ।

सूरज को विजय मिली, ऋतुओं की रात हुई

कह दो इन तारों से चन्दा के संग-संग चलते चलो ।

ने गंध का सूक्ष्म ज्ञान भी प्रदर्शित किया है जैसे अज्ञेय का गंध के डोरे डालती मालती इत्यादि में ।

हिन्दी गद्य का विकास

हिन्दी साहित्य में गद्य का विकास आधुनिक काल की देन है । यो तो मनुष्य नित्य के व्यवहार में गद्य का प्रयोग करता हुआ देखा जाता है किंतु प्रत्येक जाति के साहित्य में पद्य का विकास ही पहले हुआ है और उसी का विशेष महत्व भी रहता है । हिंदी साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है । हिंदी में गद्य का विकास आधुनिक अर्थ में ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी से ही होता है, इसके पूर्व का गद्य बहुत कम और स्फुट रूप में है । सुष्ठु रूप में हिंदी गद्य की परंपरा १६ वीं श० से ही चली । आचार्य ह० प्र० द्विवेदी ने साहित्य में आधुनिकता का वाहन प्रेस, यातायात के समुन्नत साधन एवं देश की शान्तिपूर्ण व्यवस्था को माना है और यह सब १६ वीं श० के प्रारंभ तक ही हो पाया । अब जाकर अंग्रेजों का शासन भारत में दृढ़ नींव पर स्थिर हो गया । और तभी शासन-संबंधी आवश्यकताओं तथा जीवन की नवीन परिस्थितियों के कारण गद्य की आवश्यकता एवं परिणामस्वरूप प्रादुर्भाव हुआ । यह गद्य का विकास खड़ीबोली में हुआ । इसी समय से खड़ीबोली-गद्य की निश्चित और अदृष्ट परम्परा मिलने लगती है । इस परम्परा का वर्णन करने से पूर्व हम प्राचीन साहित्य में गद्य के स्वरूप का विवेचन करेंगे ।

हिन्दी के प्राचीनतर साहित्य में गद्य का नमूना गोरखनाथ के हठयोग संबंधी ग्रंथ में मिला है जो ब्रजभाषा में है । यह ग्रंथ १४ वीं श० का माना जाता है । किंतु इसकी भाषा को देखकर कुछ विद्वान इसे परवर्ती काल की रचना मानते हैं । इसके बाद सत्रहवीं श० के लगभग गोसाईं विठ्ठलनाथ का 'शृंगार रस मंडन' नाम का ब्रज-भाषा-गद्य का ग्रन्थ मिलता है और इसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गोकुलनाथ की लिखी 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' नामक दो वार्ता-गद्य-ग्रन्थ मिलते हैं । इसके बाद नाभादास (लगभग सं० १६६०) का लिखा हुआ 'अष्टयाम' मिलता है । इसके बाद कुछ अन्य ब्रजभाषा-गद्य-ग्रन्थ मिलते हैं । इनमें मुख्य-

तथा टीकाएँ हैं जैसे हरिचरनदास की बिहारी सतसई की टीका (१७७७ ई०) कविप्रिया की टीका (१७७८ ई०) रामचरन की मानस की टीका, बिहारी सतसई तथा अन्य ग्रंथों की टीकाएँ । कुछ अन्य गद्य-ग्रन्थ भी लिखे गए जैसे हीरालाल की 'आइने अकबरी की भाषा वचनिका' इत्यादि । इसी प्रकार ब्रजभाषा गद्य की कुछ और पुस्तकें भी मिली हैं । किन्तु उनसे गद्य का कोई विकास प्रकट नहीं होता । शुक्लजी के अनुसार टीका गद्य बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था । उसमें अर्थों और भावों को संबद्ध रूप में प्रकाशित करने की शक्ति नहीं थी अतः इनके द्वारा गद्य की उन्नति की संभावना नहीं थी । राजस्थानी भाषा में भी प्रेमाख्यानक-किस्सागोई-साहित्य की बदौलत कुछ गद्य की रचनाएँ मिलती हैं । मैथिली गद्य का रूप १४ वीं श० की 'वर्ण रत्नाकर' और विद्यापति के चंपू-कथा श्रेणी के काव्यों में मिल जाता है ।

खड़ीबोली गद्य की परम्परा—हिंदी के आधुनिक गद्य की भाषा खड़ीबोली है । यों तो इसका प्रयोग सैयद गैसूदराज बन्दानवाज के मैराजुल आशकीन (१३६८) तथा अन्य उसी समय के आसपास के मुसलमान और लियाओं की रचनाओं में मिल जाता है किन्तु इसका सुन्दर एवं सुष्ठु प्रयोग १८ वीं श० से ही मिलता है । अकबर के दरबारी कवि गंग ने 'चन्द-छन्द बरनन की महिमा' में खड़ीबोली गद्य का व्यवहार किया । इसके बाद संवत् १७६८ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योगवासिष्ठ' और संवत् १८१८ में पं० दौलतराम ने जैन 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया । किन्तु भाषा की दृष्टि से निरंजनी का योगवासिष्ठ उत्कृष्ट है । अतः हम निरंजनी के योगवासिष्ठ को खड़ीबोली गद्य की प्रथम पुस्तक और निरंजनी को खड़ीबोली गद्य का प्रथम प्रौढ़ लेखक मान सकते हैं ।

हिंदी गद्य के चार आचार्य—इसके बाद करीब ५० वर्ष तक हिंदी गद्य क्षेत्र सूना रहा । यह परम्परा सन् १८०० ई० में फोर्ट विलियम की स्थापना से पुनः चल पड़ी । इस समय गद्य के विकास में योग देने वाले चार प्रमुख महानुभाव हुए जिनका गद्य साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है—मुंशी सदासुलाल, इंशाअल्लाख़ाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र । इनमें से लल्लूलाल और सदलमिश्र ने फोर्टविलियम के हिन्दी-उर्दू जिनक जॉन मिस्साहान की सेवका

से हिन्दी गद्य में पुस्तकें लिखीं। लल्लूलालजी ने 'प्रेमसागर' लिखा जिसमें ब्रज का पुट और पण्डिताऊपन है। सदलमिश्र के नासिकेतोपाख्यान में व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न है। इस भाषा में पूरवी प्रयोग मिलते हैं। इनकी भाषा में अधिक प्रवाह होने के कारण वह परवर्ती गद्य साहित्य के विकास में सहयोगी है। यही भाषा आगे के विकास की परम्परा बतलाती है। मुंशी सदासुखलाल और इंशाअल्लाखों दोनों की भाषाओं में क्रमशः पंडिताऊपन एवं फारसीपन है, इसलिए परवर्ती गद्य में इनकी शैली का विशेष अनुकरण नहीं हुआ।

ईसाइयों का सहयोग और समाचार पत्र-इसके बाद ईसाई मिशनरियों ने जनता तक अपनी बाईबिल का प्रचार करने के लिए खड़ीबोली गद्य में उसका अनुवाद कराया। इसी प्रकार स्कूल बुक सोसाइटियों और समाचार पत्रों से भी गद्य का प्रचार हुआ। १८२६ ई० में युगलकिशोर शुक्ल ने 'उदन्त मार्तण्ड' नामक पहला समाचार पत्र कलकत्ते से प्रकाशित किया। और भी कई अखबार निकले जिनमें राजा शिवप्रसाद का 'बनारस' अपनी भाषा शैली के लिए विशेष महत्वपूर्ण है। इसकी फारसी बहुल भाषा शैली की प्रतिक्रिया में हिन्दी के विद्वानों ने सन् १८५० में 'सुधाकर' नाम का शुद्ध हिन्दी भाषा का पत्र निकला। इसके दो वर्ष बाद आगरा से 'बुद्धिप्रकाश' नामक परि-मार्जित भाषा-शैली वाला एक पत्र और निकला। सामाजिक दृष्टि से भी यह प्रगतिशील पत्र था।

गद्य का विविध रूपी विकास-यद्यपि सरकार की नीति हिन्दी के प्रतिकूल थी और अदालत तथा अन्यान्य शासन के क्षेत्रों में उसने इसकी प्रगति को रोका फिर भी उसे नवीन शिक्षा के पाठ्य-क्रम में इसे स्थान देना पड़ा। ऐसे ही समय (सन् १८२३ से १८३५) में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने शिक्षा विभाग में प्रवेश किया और हिन्दी की रक्षा के लिए उसके 'आम फहम' तथा 'खास पसंद' (अरबी फारसी के चलते शब्दों से युक्त) रूप को प्रश्रय दिया। इनकी प्रतिक्रिया में राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६ से १८६६) ने हिन्दी और उर्दू को न्यारी-न्यारी बोली घोषित किया और अरबी फारसी के शब्दों का विरोध किया। ये विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। इनके शकुन्तला नाटक में

इसका रूप देखने को मिलता है। फिर भी ये कुछ विदेशी भाषा के शब्दों को अपनाने के पक्षपाती भी थे। इसी समय के आसपास कुछ पाठ्यपुस्तकों की रचना हुई और कुछ अंग्रेजी से हिन्दी गद्य में अनुवाद की प्रवृत्ति भी चल रही थी। १८७५ ई० में आर्यसमाज की स्थापना के साथ पंजाब आदि अहिन्दी प्रांतों में स्वामी दयानन्द ने हिन्दी का प्रचार किया। पंजाब में हिन्दी का प्रचार करने वालों में दो अन्य प्रमुख व्यक्ति हो गए हैं। एक ब्राह्म समाज को व्यापक बनाने वाले नवीनचन्द्र थे और दूसरे हिन्दू संस्कृति के रक्षक पं० श्रद्धाराम फुलौरी। स्वामी दयानन्द ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक सत्यार्थप्रकाश की रचना खड़ी बोली गद्य के परिमार्जित रूप में की। श्रद्धाराम फुलौरी का गद्य भी सुलभा हुआ और प्रौढ़ है जिसमें उन्होंने कठिन दार्शनिक तथ्यों को सरल भाषा में समझाने का सफल प्रयत्न किया है। इस प्रकार इस युग में हिन्दी गद्य का विकास करने में समाजिक चेतना के सबसे बड़े पुरस्कर्ता आर्य-समाज एवं उसकी प्रतिक्रिया करने वाले सनातन हिन्दू-धर्म-समाज ने अपूर्व सहयोग दिया।

भारतेन्दु युग— भारतेन्दु के उदय के साथ ही हिन्दी गद्य और पद्य दोनों में नवयुग की चेतना के दर्शन होने लगते हैं। भारतेन्दु युग में राष्ट्रीय चेतना का विकास हो रहा था और सन् १८८५ में उसका सुष्ठु और निश्चित रूप इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना में प्रकट हुआ। युग की चेतना को जनता तक पहुँचाने में साहित्यिकों ने बड़ा सहयोग दिया। नाटक, सभा संस्थाओं में व्याख्यान और पत्र पत्रिकाओं में लेख आदि के द्वारा लेखक जनता तक अपना संदेश पहुँचा सके। और इसीलिए इस युग में गद्य का सर्वतोमुखी एवं महत्वपूर्ण विकास हुआ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बहुत प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन्होंने सन् १८६७ में कवि वचन सुधा और सन् १८७३ ई० में हरिश्चन्द्र मैगजीन (हरिश्चन्द्र चन्द्रिका) निकाली। सन् १८७३ में हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के प्रकाशन से ही हिन्दी में नई भाषा-शैली की नींव पड़ी। ह० प्र० द्विवेदी के शब्दों में “भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने और उनके सहयोगियों ने जिस प्रकार की भाषा में अपने लेख और ग्रंथ लिखे, वह बहुत स्वाभाविक और भाव प्रकाशन में सक्षम

भाषा थी।" भारतेन्दुजी ने अपने समय में प्रचलित—उर्दू फारसी बहुल हिन्दी और तत्सम बहुल विशुद्ध हिन्दी—इन दो शैलियों में सामंजस्य स्थापित किया और ऐसी सामान्य भाषा-शैली को जन्म दिया जो पूर्ण रूप से व्यवहारिक थी। उन्होंने अपनी दो शैलियों का उल्लेख किया है—एक शुद्ध हिन्दी जिसका प्रयोग उनके नाटकों एवं अन्य गंभीर निबंधों में है, दूसरी सामान्य हिन्दी जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े तथा तद्भव शब्द अधिक हैं। इस शैली के दर्शन सामान्य लेखों एवं पत्र-पत्रिकाओं में होते हैं। इस प्रकार भारतेन्दु ने एक ऐसी शैली को जन्म दिया जिसमें न किसी प्रकार का बंधन था और न वह राजा शिवप्रसाद या लक्ष्मणसिंह की शैली की भाँति कृत्रिमता से गढ़ी गई थी। इन्होंने गद्य क्षेत्र में इस नई शैली का प्रवर्तन करके युगान्तर उपास्थित किया। उनकी शैली का सबसे बड़ा गुण सहजपन एवं भावों का अनुसरण है। अपनी भावानुकूल शैली के द्वारा भारतेन्दुजी ने हिन्दी गद्य को खूब समृद्ध किया। उनके सहयोगियों में प्रायः उन्हीं का अनुकरण करने वाले हैं, किन्तु बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र स्वतंत्र शैलीकार के रूप में दिग्गज पड़ते हैं। बालकृष्ण भट्ट में भारतेन्दु जी की गंभीर निबन्धों की शैली का विकास मिलता है किन्तु उन्हें भाषा की शुद्धता का आग्रह नहीं है। उनकी भाषा में अंग्रेजी, उर्दू और फारसी के शब्द भी गुथे हुए मिलते हैं। इन्होंने मुहावरों का भी बहुत प्रयोग किया है। इनके विपरीत प्रताप-नारायण मिश्र ने भारतेन्दु की सामान्य शैली को अपनाकर उसमें कढ़ावतों के प्रयोग एवं व्यंग्य और हास्य के पुट से एक सजीवता उत्पन्न करदी है। उनकी भाषा में जन व्यवहृत ग्रामीण भाषा, विनोद, कट्टकियों एवं कढ़ावतों का सुन्दर प्रयोग है जो उनकी शैली को जन-प्रिय बना सका।

यह तो हुई गद्यशैली के विकास की बात। भारतेन्दु युग में गद्य-साहित्य के विविध अंगों में नाटक, उपन्यास और निबन्ध का विकास हुआ। वैसे इस युग में समीक्षा का भी सूत्रपात हो गया था किन्तु इसका विशेष विकास न हो सका।

द्विबेदी युग—धीरे-धीरे भारतेन्दु-कालीन गद्य-शैली तत्सम-प्रधान होती गई और बीसवीं शतब्दी में इसके अनेक रूपों की प्रतिष्ठा हुई। इसका

मुख्य कारण गद्य के विभिन्न अंगों का उद्भव एवं विकास था। इस युग में गद्य के उक्त अंगों के अतिरिक्त कहानी और समीक्षा का भी सूत्रपात एवं विकास हुआ। उक्त अंगों में भी विविध भाव एवं शैली की योजना हुई। इन अंगों के विकास का अध्ययन हम पृथक्-पृथक् आगे करेंगे। गद्य शैली की दृष्टि से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'सरस्वती' द्वारा भाषा परिमार्जन का महत्वपूर्ण कार्य किया और हिन्दी गद्य की प्रौढ़ शैली का स्वरूप निश्चित किया। द्विवेदीजी की शैली की कई विशेषताएँ हैं। सबसे बड़ी विशेषता शैली में संयम है। दूसरी विशेषता प्रसाद और ओज गुण का पाया जाना है। इसके अतिरिक्त इनकी शैली में प्रवाह और सजीवता है। फिर भी द्विवेदी जी भाषा में तद्भव शब्दों के पक्षपाती हैं। उस युग के कुछ प्रसिद्ध लेखकों पर द्विवेदी जी या सरस्वती की विशिष्ट शैली की छाप है। श्यामसुन्दरदास ने शैली में तत्समता को प्रधानता दी। पं० पद्मसिंह शर्मा की शैली में उर्दू शैली की चुलबुलाहट और चलताऊपन है जो उनके व्यक्तित्व को दर्शाता है। इसी युग में प्रेमचन्द अपनी नवीन शैली को लेकर आए। उनकी शैली में खड़ी-बोली के अधिक चलते हुए रूप का व्यवहार है। द्विवेदी युग के दो भावात्मक लेखकों की शैली भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। ये हैं माधवप्रसाद मिश्र और सरदार पूर्णसिंह। मिश्र जी की शैली में ओज एवं उत्तेजना है तो पूर्णसिंह की शैली में गंभीर तथा अनुभूतिपूर्ण विचारधारा। दोनों लेखकों की गद्य-शैली बड़ी प्रौढ़ है। इन्होंने हिन्दी गद्य के विकास में अपनी विशिष्ट शैलियों से महत्वपूर्ण योग दिया है।

द्विवेदीयुग के अनन्तर गंभीर विषयों का विश्लेषण करने वाली प्रौढ़ शैली को लेकर रामचन्द्र शुक्ल आए। इन्हीं के समकक्ष प्रौढ़ शैली कुछ अन्य लेखकों में भी दिखाई पड़ती है। छायावादी कवि प्रसाद में भी प्रौढ़शैली मिलती है। शुक्ल जी की प्रौढ़शैली ने वर्तमान युग तक के प्रायः सभी गद्य लेखकों को प्रभावित किया है। प्रेमचन्द के 'गबन' में जिस प्रौढ़ शैली का सूत्रपात हुआ है उससे उनके समकालीन और परवर्ती कथाकार बहुत प्रभावित हुए। इनमें सुदर्शन कौशिक, जैनेन्द्र प्रमुख हैं। इधर उपन्यास क्षेत्र में भी कुछ

नवीन शैलियों का प्रवर्तन हुआ है जैसे मनोविश्लेषणात्मक, लाक्षणिक, व्यंग्यमूलक अर्थात् साम्यवादी विचारों को वहन करने वाली । निबन्ध के क्षेत्र में भी बहुत सी नवीन शैलियों का विकास हुआ है । नाटक के क्षेत्र में नवीन शैली के जन्मदाता प्रसादजी हैं और इनसे आगे अत्याधुनिक नाट्यशैलीकार लक्ष्मी नारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' इत्यादि हैं ।

छायावाद— युग में गद्य शैलियों का विकास हुआ है । उसमें लाक्षणिकता, अलंकरण, काव्यात्मक एवं ऐश्वर्यपूर्ण तत्वों का विकास हुआ है । महादेवी वर्मा का आधुनिक-गद्य-शैली के इतिहास में अपनी औजस्यपूर्ण एवं गंभीर संस्कृतनिष्ठ शैली के कारण महत्वपूर्ण स्थान है । उनके काव्यग्रन्थों की भूमिकाओं में संस्कृत बहुल काव्यात्मक गंभीर शैली है तो उनके संस्मरणों में व्यंग्य, हास्य एवं हृदय की करुणा को व्यक्त करने वाली बड़ी मार्मिकशैली है । माखनलाल चतुर्वेदी भी वर्तमान युग के श्रेष्ठ शैलीकार हैं । इनके गद्य में हमें गद्य के काव्यात्मक रूप का चरम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है, किन्तु अन्योक्ति की प्रधानता होने के कारण यह सांकेतिक हो गई है । फिर भी इसमें सरलता है अस्पष्टता का अभाव है । इनकी शैली के तीन विशेष गुण हैं तन्मयता, रागात्मकता एवं सुबोधन ।

भावात्मक, विचारात्मक शैलियों के अतिरिक्त वर्तमान युग में अनुसंधानात्मक और वैज्ञानिक शैली का भी विकास हुआ । अनुसंधानात्मक शैली के सुन्दर स्वरूप का उदाहरण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के नाथ-पंथ, कबीर, मध्यकालीन धर्म साधना इत्यादि ग्रन्थों में मिलता है । वैज्ञानिक विवेचन की शैली का परिचय डा० धीरेन्द्र वर्मा के भाषा के इतिहास में मिलता है । डा० नगेन्द्र भी अपनी विशिष्ट शैली के लिए महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । इनकी शैली में भावात्मक, विचारात्मक एवं कलात्मक शैलियों के तत्व मिलते हैं । इन्होंने आलोचना में अपनी सरस शैली के द्वारा तथ्य निरूपण को बहुत सुबोध एवं विचारों की शृङ्खला को भावपूर्ण बना दिया है ।

वर्तमान युग में शैली की दृष्टि से प्रगतिशील लेखकों ने कुछ नवीन प्रयोग किये हैं । डा० रामविलास शर्मा अपनी विशिष्ट शैली को लेकर अवतीर्ण हुए हैं । 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' में उनकी

चलती हुई, ओजपूर्ण गद्य शैली का अच्छा परिचय मिलता है। इनके ठीक विपरीत डा रांगेय-राघव गम्भीर-विचार-विश्लेषण एवं मनोवैज्ञानिक तर्कपूर्ण शैली को लेकर गद्य-क्षेत्र में आए। उनकी शैली में पाठक को उद्बुद्ध करने की शक्ति है। इस शैली की दूसरी विशेषता ज्ञान की गरिमा है। इस शैली की तीसरी विशेषता इसके संयमित व्यंग्य की है। प्रभाकर माचवे, नामवरसिंह प्रभृति अन्य प्रगतिशील लेखकों में एक नवीन गद्य शैली के दर्शन होते हैं जिसका सूत्रपात एक प्रकार से यशपाल पहले ही से कर चुके थे। इसमें व्यंग्य एवं कटूक्तियों की प्रधानता एवं डा० रांगेयराघव की सी व्यक्ति-निष्ठता के दर्शन होते हैं।

सारांश यह है कि गद्य के विविधमुखी विकास को लक्ष्य करके ही कुछ विद्वान् लेखकों ने हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण आधुनिक-रचनाकाल को 'गद्य-काल' कहकर पुकारा है। इस काल में गद्य के विविध अङ्ग-उपाङ्गों की एवं शैली की सर्वतोमुखी एवं विविधरूपी उन्नति हुई है। गद्य की विभिन्न शैलियों से वर्तमान युग का गद्य साहित्य भरा जा रहा है। आज का लेखक अपनी अनुभूति के प्रति अधिक सच्चा होना चाहता है इसलिए वह इस युग-जनित जटिल एवं उलझी हुई विचारधारा को व्यक्त करने के लिए, अपने मन की सब कुछ कह देने के लिए नई-नई शैलियाँ गढ़ता है। इस प्रकार वर्तमान काल में हिन्दी गद्य अपनी उन्नति के चरम-शिखर पर है। क्या भाव, क्या भाषा शैली दोनों ही दृष्टि से हिन्दी गद्य पूर्णरूपेण प्रगतिशील है।

✓ हिन्दी-नाट्य-साहित्य

गद्य के अन्य अङ्गों की भाँति हिन्दी में नाटकों की परम्परा भी पाश्चात्य सम्पर्क से आधुनिक काल में प्रारम्भ हुई। आधुनिककाल में जिस प्रकार गद्य का विकास एक नवीन वस्तु है उसी प्रकार आधुनिक गद्य-साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से होना भी एक विलक्षण बात है। यों तो प्राचीन भारतीय साहित्य में नाटकों की उत्पत्ति वेदों के साथ-साथ ही हुई किन्तु दसवीं शताब्दी तक संस्कृत की उत्कृष्ट-नाट्य-परम्परा का हास होने लगा। इसके बाद हिन्दी का आदिकाल आता है और इसमें संस्कृत की समृद्ध नाट्य-परंपरा

एक दम रुक गई। इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी से यह परम्परा पुनः प्रवर्तित हुई। हिन्दी में नाट्य साहित्य का इतने लम्बे समय तक अभाव होने के विद्वानों ने कई कारण बताए हैं। कुछ विद्वानों ने रंग के अभाव को इसका मूल कारण माना है तो अन्य ने इस्लाम धर्म की नाट्य-विरोधी भावनाओं को। कुछ अन्य विद्वान सन्तों की निराशानूलक वाणी से नाट्य-सृजन की प्रेरणा का कुण्ठित होना मानते हैं। वस्तुतः ये कारण साहित्य की अखण्ड परम्परा में बाधा नहीं पहुँचा सकते हैं। तात्कालिक राजनीति एवं सामाजिक स्थिति का साहित्य पर प्रभाव पड़ता है किन्तु साहित्य की परम्परा में भी कुछ त्रुटियाँ आ जाती हैं और इस कारण उत्कृष्ट साहित्य का अभाव हो जाता है। दसवीं श० के लगभग संस्कृत का नाट्य-साहित्य मौलिकता को खोकर एकदम रूढ़िप्रस्त एवं हासोन्मुख हो चला था। उसमें नाट्य-साहित्य की सबसे बड़ी प्रेरणा जन चित्त को उद्वेलित करने की शक्ति नहीं रही थी। हिन्दी को संस्कृत से नाटकों की यही परम्परा मिली जिसका आगे निर्वाह न हो सका। एक और कारण भी है। हिन्दी का उदयकाल लड़ाई-भगड़े का युग था अतः रंगमंच की स्थापना और उन्नति की सम्भावना बहुत कम थी। आधुनिक काल में पाश्चात्य साहित्य की नाट्य परम्परा को ग्रहण करने वाले बँगला साहित्य से प्रेरणा लेकर हिन्दी में नाट्य-रचना का प्रयास हुआ। हिन्दी में नाट्य-साहित्य की परम्परा का सुचारु रूप से प्रवर्तन भारतेन्दु बाबू से होता है।

भारतेन्दु से पहले के कुछ हिन्दी नाटकों की चर्चा भी यहाँ उपयुक्त है। सत्रहवीं शताब्दी से ही कुछ नाटकों की रचना होने लगी थी। ये नाटक तीन प्रकार के हैं—अनुवादित, मौलिक साहित्यिक और सामाजिक। अनुवादित नाटकों की परम्परा हृदयराम के संस्कृत के हनुमन्नाटक के अनुवाद से दिखाई देती है। इसकी रचना सत्रहवीं शताब्दी में हुई। दूसरा संस्कृत का नाटक प्रबोध-चन्द्रोदय है जिसके हिन्दी में कई अनुवाद हुए, जैसे १७ वीं शताब्दी में महाराज जसवन्तसिंह ने, १८वीं श० में ब्रजवासीदास और जनअनन्य ने और इसी श० के मध्य भाग में सूरति मिश्र ने इसका अनुवाद किया। केशवदास ने भी विज्ञान-गीता में इसकी परिपाटी का अनुसरण किया है और देव ने तो इसे 'देवमाया प्रपञ्च' के रूप में ही परिवर्तित कर दिया। कालिदास के शकुन्तला

नाटक के भी अनुवाद हुए। इन अनुवादों में पहला नेवाज का है और दूसरा राजा लक्ष्मणसिंह का। हिन्दी में सबसे पहला मौलिक नाटक रीवा नरेश विश्वनाथसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' है। इसकी रचना सन् १७०० के लगभग हुई। रामचन्द्र शुक्ल इसे ब्रजभाषा का नाटकत्वपूर्ण प्रथम नाटक मानते हैं। इसी कोटि का भारतेन्दु के पिता गिरधरदास का 'नहुष' नाटक है सामाजिक नाटकों में उन नाटकों की गणना है जो जनता अपने मनोरंजन के लिये खुले मैदानों में स्वांग आदि के रूप में खेलने लगी। रामलीला, रास लीला आदि ऐसे ही नाटक हैं जो जनता में मनोरंजन के साथ धार्मिक प्रवृत्ति को भी जाग्रत करते रहे। इस प्रकार के नाटकों में लक्ष्मण का रामलीला, ईश्वरीप्रसाद का उषा अनिरुद्ध आदि नाटक प्रसिद्ध हैं। इन नाटकों के सम्बन्ध में एक प्रमुख बात इनमें साहित्यिकता के अभाव एवं पद्यबद्धता की है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती समय की इन तीनों नाट्य परम्पराओं को अपनाया और इनमें साहित्यिक गुणों का विकास, गद्य की प्रधानता एवं युगानुरूप सुधार किये। उन्होंने संस्कृत के उत्कृष्ट नाटकों का बड़ा सुन्दर अनुवाद किया। एक बंगला नाटक का भी अनुवाद किया। भारतेन्दु ने कुछ मौलिक नाटकों की रचना भी की जिनमें से कई बहुत लोकप्रिय हुए और उनका उसी युग में सैकड़ों बार अभिनय हुआ। वस्तुतः नाट्य-साहित्य द्वारा भारतेन्दु युग के लेखक नवीन युग की चेतना एवं जनता की आशा-आकांक्षाओं को प्रकट करना चाहते थे। श्री बच्चनसिंह ने भारतेन्दुजी के नाटकों की विस्तृत विषय-भूमि की चर्चा करते हुए लिखा है—“भारतेन्दु ने अपने नाटकों की कथावस्तु जीवन के विविध क्षेत्रों से ली। किसी नाटक में ऐकान्तिक प्रेम का निरूपण किया गया है तो किसी में समसामयिक सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं का चित्रण; कहीं ऐतिहासिक और पौराणिक वृत्त के आधार पर नाटक का ढाँचा खड़ा किया गया है तो कहीं देश की दुर्दशा का मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है। भारतेन्दु के पूर्व नाटकों के सीमित विषय की दीवारें टूट गईं और विषय-भूमि को पूरा विस्तार मिला। नीलदेवी और सतीप्रताप में इतिहास और पुराण की वे उज्ज्वल गाथाएँ हैं जिनके आलोक में पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध से विपथगामिनी आर्य्य ललनाएँ अपना मार्ग पहचान

सकती हैं। यह वास्तव में पाश्चात्य संस्कृति के विरोध में सांस्कृतिक जागरण का चिह्न है। '.....वस्तुतः अतीत की स्वस्थ कथाओं और उदात्त चरित्रों से शक्ति सयम करना ही इनका मुख्य उद्देश्य है।' इसी उद्देश्य को लेकर भारतेन्दु युग के कुछ अन्य साहित्यिकों ने भी नाट्य रचना की। इनमें श्रीनिवासदास का संयोगिता-स्वयम्बर, राधाकृष्णदास का महाराणा प्रताप, प्रतापनारायण मिश्र का 'हमीर हठ' प्रसिद्ध हैं। सामाजिक समस्याओं को लेकर भी कुछ नाटक लिखे गए। इनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'प्रेम जोगिनी' राधाकृष्णदास का 'दुःखिनी बाला' और प्रतापनारायण मिश्र का 'गो संकट' प्रमुख हैं। राष्ट्रीय भावना जगाने वाले कुछ नाटक लिखे गए। इनमें विदेशी शासन से पीड़ित एवं कुचली हुई राजनीति, आर्थिक तथा सामाजिक अवस्था के बड़े मार्मिक चित्र हैं। भारतेन्दु का 'भारत दुर्दशा' इन्हीं चित्रों से पूर्ण है। भारतेन्दु ने पुरानी सामाजिक गली सड़ी रूढ़ियों एवं परम्पराओं पर आघात किया और इसलिए उनके कुछ नाटकों में व्यंग्य और विनोद को भी स्थान मिला। इसलिए इन्होंने प्रहसन भी लिखे जैसे अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति। कुछ अन्य लेखकों ने भी प्रहसन लिखे जैसे बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षादान', राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुँहासे'।

भारतेन्दु युग में अन्य भाषाओं के नाटकों का अनुवाद भी हुआ। संस्कृत के नाटकों के अनुवाद की परम्परा पुरानी है। इस युग में बंगला और अङ्ग-रेजी के नाटकों का भी अनुवाद हुआ। इस दिशा में लाला सीताराम और रामकृष्ण वर्मा ने उल्लेखनीय कार्य किया।

भारतेन्दु युग की नाट्य रचना के सम्बन्ध में दो बातें विशेष महत्वपूर्ण हैं। एक तो इस युग के नाटकों में समय के साथ देवता, गन्धर्व, राक्षस आदि दैवी एवं पौराणिक पात्रों की कमी होती गई और इनके स्थान पर मनुष्य की बुद्धि और उसके भावों का चमत्कार अधिक दिखाया जाने लगा। इस प्रकार नाटक का जीवन के विविध अङ्गों से सम्बन्ध स्थापित हो गया। दूसरी उल्लेखनीय बात पद्य के स्थान में गद्य के प्रयोग की प्रचुरता एवं ब्रजभाषा के स्थान पर गद्य में पूर्णतया और पद्य में अंशतः खड़ीबोली की स्थापना की है।

शैली की दृष्टि से इस युग के नाटकों में संस्कृत की शास्त्रीय शैली (नांदी गठ, भरतवाक्य, स्वगत भाषण, अंकावतार, काव्यात्मक वातावरण इत्यादि की योजना) का अनुकरण हुआ है। उसमें कहीं-कहीं पारसी-नाटक-शैली का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है।

भारतेन्दुयुग के अन्तिम दिनों में पारसी नाटक कम्पनियों के लिए भी कुछ उर्दू ढंग के मनोरंजक नाटकों की रचना हुई किन्तु रंगमंच के वे नाटक सर-रुस के खेल समझ कर देखे जाते थे। साहित्यिकता के दृष्टिकोण में लाने वाली भावना के अभाव को देखकर ही हमने यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया है।

भारतेन्दु के पीछे नाटकों की परम्परा कुछ क्षीण रूप से प्रवहमान हुई। द्विवेदी-युग में मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के नाटकों की रचना हुई फिर भी अनूदित नाटकों की बहुलता है। वस्तुतः द्विवेदी-युग में भाषा परि-मार्जन एवं गद्य शैली का विकास ही अधिक हुआ, नाटक आदि की रचना की ओर लोगों का ध्यान न गया। वस्तुतः इस युग के मौलिक नाटकों में ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों का प्राधान्य है और सामाजिक जीवन के विविध अङ्गों एवं समस्याओं को लेकर रचे जाने वाले नाटकों का अभाव है। ऐतिहासिक विषय-वस्तु को लेकर चलने वाले नाटकों में जगन्नाथप्रसाद चतु-र्वेदी का 'तुलसीदास', वियोगी हरि का 'प्रबद्ध यामुने', मिश्रबन्धु का 'शिवाजी' आदि प्रमुख हैं। सामाजिक विषयों पर कुछ व्यंग्यमूलक प्रहसनों की रचना हुई जिनमें जीवन की असंगतियों एवं नवीन वातावरण (पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव) के प्रति व्यंग्य हैं। बद्रीनाथ भट्ट के 'विवाह विज्ञापन' में पाश्चात्य ढंग की कृत्रिम साजसज्जा पर व्यंग्य है। पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'लल्ला बाबू' में समाज की असंगतियों का एक चित्र प्रस्तुत किया है। जी० पी० श्रीवास्तव के कुछ प्रहसन भी निकले किन्तु वे उच्छकोटि की नाट्यकला का परिचय नहीं देते। इस युग में पौराणिक कथाओं के आधार पर थियेट्रिकल ढंग के नाटक भी बने। ये नाटक उर्दू में ही लिखे जाते थे। और केवल 'तमाशा' एवं स्वाँग रूप में थे। इनमें साहित्य और कला दोनों की मिट्टी गलीत थी। इन कम्पनियों में हिंदी के नाटकों का प्रवेश कराने वाले पं० नारा-

यणप्रसाद बेताब ने 'महाभारत' नाटक लिखा जिसने जनता की रुचि को उर्दू नाटकों से हिंदी की ओर मोड़ा। इसी प्रकार के नाटककारों में पं० राधेश्याम कथावाचक, पं० हरिकृष्ण जौहर की गणना है। इन्होंने भी अभिमन्यु इत्यादि के पौराणिक विषय को लिया। राधेश्याम के 'वीर-अभिमन्यु' नाटक में पौराणिक विषय लेकर आधुनिक समाज का दृश्य अङ्कन करने का सुन्दर प्रयत्न है। पौराणिक विषयों को लेकर कुछ साहित्यिक पुरुषों ने भी मौलिक नाटकों की रचना की, जैसे अयोध्यासिंह उपाध्याय जी का 'रुक्मिणी परिणय,' 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग', पं० ज्वालाप्रसाद का 'सीता-बनवास' बलदेवप्रसाद मिश्र का प्रभास मिलन, मीराबाई; बा० शिवनन्दनसहाय का सुदामा इत्यादि। पूर्णतया कल्पित कथावस्तु को लेकर चलने वाला राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्र-कला भानु कुमार' नाटक मध्ययुगीन दरबारी संस्कृति को दर्शाता है।

अब इस युग के अनूदित नाटकों की भी चर्चा कर ली जाय। इस युग में संस्कृत की अपेक्षा अंग्रेजी और बंगला के नाटकों के अनुवाद अधिक हुए। बंगला के उत्कृष्ट नाटकों का अनुवाद करने वाले पं० रूपनारायण पॉडैय, अंग्रेजी के शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद करने वाले पुरोहित गोपीनाथ तथा संस्कृत नाटकों का अनुवाद करने वाले लाला सीताराम प्रसिद्ध हैं। पं० सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के उत्तर रामचरित और मालतीमाधव का बड़ी सरस और साहित्यिक भाषा में अनुवाद किया।

द्विवेदी युग के नाटकों की शैली में प्रायः पूर्ववर्ती नाटकों की परम्परा चलती रही और प्रायः उन्हीं प्रवृत्तियों का विकास हुआ। हाँ, नाटकों में पद्य की भाषा धीरे-धीरे खड़ीबोली होने लगी और पाश्चात्य तथा बंगला प्रभाव से पद्य का प्राधान्य हटने लगा। गद्य की भाषा बड़ी साफ-सुथरी एवं तत्सम प्रधान होने लगी।

हिंदी-नाट्य-साहित्य का पूर्ण विकास तृतीय उत्थान काल में या जयशंकर-प्रसाद के इस क्षेत्र में आगमन से हुआ। नाटक के क्षेत्र में नवीन शैली के, या यों कहे, कि हिन्दी की अपनी मौलिक शैली के जन्मदाता प्रसाद जी हैं। उन्होंने एक नवीन नाट्य शैली को जन्म देकर आगे के नाटककारों के लिए मार्ग प्रदर्शन किया। प्रसादजी ने हिन्दी नाट्य साहित्य का पूर्ण परिपाक करके

उसे चरमोन्नति की सीढ़ी पर पहुँचा दिया। हिन्दी-नाट्य-साहित्य का यह विकास काल 'प्रसाद युग' के नाम से प्रसिद्ध है।

जयशंकरप्रसाद एक मौलिक व्यक्तित्व लेकर अवतरित हुए। उन्होंने विदेशी नाट्य शैली में जो कुछ अच्छा था वह सब अपना बनाकर अपनाया है। पुरानी रुढ़ियों को हटाकर अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। उन्होंने पहली बार अपने नाटक के पात्रों को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान किया और चरित्र-चित्रण की ओर विशेष ध्यान देकर रस की धारा प्रवाहित की। प्रसादजी ने यूरोप में प्रचलित शील-वैचित्र्यवाद का अन्धानुकरण न करके और शील-वैचित्र्यवाद के सिद्धान्त को रसविधान के अन्तर्गत अपनाकर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। प्रसादजी के नाटकीय पात्रों में अनेक प्रकार की परिस्थितियों के बीच जो अन्तर्द्वन्द्व की अवतारणा हुई है वह आधुनिक मनो-विज्ञान के अनुकूल है। इससे वे पात्रों के मन के अनेक स्तरों को खोलकर दिखाने में समर्थ हुए हैं। नारी चरित्रों की अनेक प्रकार की कल्पना करके उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। सारांश यह कि ऐतिहासिक अनु-शीलन और नवीन कल्पना के प्रयोग से उन्होंने नाट्य-कला में नवीन उद्भावनाएँ की। उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना प्राचीन भारतीय संस्कृति की नाटकीय-कला के द्वारा खोज में प्रकट हुई है। उनकी नाट्यकला की मुख्य विशेषताएँ ये हैं—सांस्कृतिक धारा के अनुकरण प्रवाह की भावना, दार्शनिक चिन्तन, स्वाभाविक चरित्र कल्पना, राष्ट्रीयता का आग्रह, संघर्ष के द्वारा जीवन के मूल तत्व की खोज, नारी में शक्ति और चेतना की प्रतिष्ठा, काव्यात्मकता का प्रवाह, पद्य में खड़ीबोली की पूर्ण प्रतिष्ठा और प्राचीन शास्त्रीय नीरस रुढ़ियों का बहिष्कार और नवीन युगानुकूल नाट्य-शैली की प्रतिष्ठा।

प्रसादजी ने विविध विषयात्मक एवं शैली-विधानात्मक नाटकों का सृजन किया। उन्होंने पश्चिम में प्रचलित कई नाट्य शैलियों को अपनाया। प्रसादजी के नाटक संक्षेप में इन कोटियों में रखे जा सकते हैं। प्रथम, ऐतिहासिक नाटक जैसे चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि। इन नाटकों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के सजीव चित्र हैं। उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति की खोज नाटकीय कला

द्वारा की और ऐतिहासिक तत्वों के विश्लेषण में मौलिक ढङ्ग अपनाया। इन नाटकों में प्रसादजी ने विभिन्न संस्कृतियों का संघर्ष दिखाकर मूल भारतीय चर्चा सांस्कृतिक धारा को अनुकरण बनाये रखा और नवीन राष्ट्रीय चेतना की भावना को विशेष बल दिया और इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर उन्होंने आशावादिता का पल्ला नहीं छोड़ा है। दूसरे, प्रसाद ने 'जन्मेजय का नाग-यज्ञ' नामक पौराणिक नाटक लिखा है। इसमें प्रसाद ने पहली बार पौराणिक वातावरण को नवीन युग के आलोक से आलोकित किया है और भारतेन्दु-युगीन पौराणिक-नाट्य शैली से पार्थक्य सूचित किया। तीसरे, पाश्चात्य समस्या-नाटक की शैली का परिचय इन्होंने 'ध्रुवस्वामिनी' में दिया। चौथे, इन्होंने अंग्रेजी के एलोगेरी (अन्यापदेश) ढङ्ग का नाटक 'कामना' लिखा। इसमें भाव एवं मनोविकारों का मानवीकरण है और प्रतीकात्मक शैली का प्राधान्य है। इसलिए कुछ विद्वान इसे 'भावात्मक नाटक' संबोधन करते हैं और अन्य 'प्रतीकात्मक'। पाँचवें, प्रसादजी ने 'कण्ठालय' नामक प्रथम गीतिनाट्य का सृजन किया। छठे, प्रसादजी ने 'एक घूँट' लिखकर एकांकी शैली का भी सूत्रपात किया। इस प्रकार प्रसादजी ने नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में विविध शैलियों का प्रयोग किया जिनका परवर्ती नाटककार अनुकरण करते रहे।

प्रसादजी के बाद ऐतिहासिक नाट्यकारों में हरिकृष्ण प्रेमी, उग्र, गोविन्द-वल्लभपन्त, उदयशंकर और सेठ गोविन्ददास प्रमुख हैं। इन लेखकों ने इस क्षेत्र में नवीन शैली की उद्भावनाएँ की हैं। इनमें प्रेमी जी का 'रक्षा बन्धन' उग्र का 'महात्मा ईसा' और सेठ गोविन्ददास का 'हर्ष' विशेष प्रसिद्ध हुआ।

पौराणिक नाटकों के क्षेत्र में भी नवीन शैली-विधान दिखाई पड़ता है। इन नवीन शैली विधान का संयोजन करने वालों में सुदर्शन, माखनलाल चतुर्वेदी, उदयशंकर भट्ट प्रमुख हैं। सामाजिक नाटकों का सृजन करने वालों में सेठ गोविन्ददास और उदयशंकर भट्ट विशेष सफल हुए हैं। उदयशंकर भट्ट ने पौराणिक प्रसंगों के आधार पर सुन्दर गीति-नाट्यों की (विश्वामित्र, मत्स्यगन्धा, राधा) रचना करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

भावात्मक (अन्यापदेशिक) नाटककारों में सुमित्रानन्दन पन्त का अपनी ज्योत्स्ना के लिए विशेष महत्व है। इन्होंने कुछ गीति नाट्य भी लिखे हैं।

प्रसाद के बाद नाट्य साहित्य के विकास के चतुर्थ उत्थान में उपर्युक्त तीन प्रमुख नाटककारों (गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट) की चर्चा करने के बाद अब हम पं० लक्ष्मीनाथायण मिश्र की चर्चा करेंगे। आप हिन्दी के प्रमुख समस्यामूलक नाटककार कहे जाते हैं। इन्होंने पश्चिम के इन्सन, विल्हे तथा शॉ की विशेषताओं का सामंजस्य अपने नाटकों (सिदूर की होली, राजयोग, मुक्ति का रहस्य इत्यादि) में प्रस्तुत किया है। समस्यामूलक नाटकों में युग की नवीन समस्याओं को प्राचीन रूढ़ियों और परम्पराओं के साथ संघर्ष दिखाते हुए इस प्रकार प्रदर्शित किया जाता है कि पाठक स्वयं निर्णय नहीं कर पाता कि कौन सा पक्ष सही है। इसी उद्देश्य से प्राचीन रूढ़ियों एवं परम्पराओं के विरोधी विचारों को उभारकर अङ्कित किया जाता है। नाटककार एक विशिष्ट चिन्तक के रूप में पाठक की विचारशक्ति उद्बुद्ध करने का प्रयत्न करता है। मिश्रजी ने अपने नाटकों में यथार्थवादी शैली अपनाई है और इसीलिए उनके नाटकों में संवादों की लघुता, अधिक अङ्क एवं दृश्यों का अभाव मिलता है। उन्होंने व्यंग्य, विनोद एवं हाजिर-जवाबी का संयोजन करके अपने नाटकों में बुद्धिवाद को प्रखर रूप में व्यक्त किया है। पाश्चात्य टैक्नीक को अपनाकर भी मिश्रजी पूर्णतया भारतीय-भावनावादी, आदर्शवादी एवं परम्परावादी हैं। नाटकीय विधान की सरलता उनके समस्यामूलक नाटकों की विशेषता है। यों तो उन्होंने ऐतिहासिक नाटक (गरुडध्वज) भी लिखा है किन्तु उसका विशेष महत्व नहीं है।

नाट्य-विकास के इस वर्तमान युग में एकांकी नाटकों का सृजन भी पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण पर हुआ है। सर्वप्रथम प्रसादजी ने 'एक घूँट' नामक एकांकी लिखा था। इसके बाद भुवनेश्वरप्रसाद का 'कारवाँ' संग्रह पश्चिमी शैली को लेकर आया। वर्तमान युग में समय की बचत की दृष्टि से एवं चित्रपट के विकास के कारण एकांकी नाटकों का विशेष महत्व हो गया है। एकांकी नाटकों में भी शैली का खूब परिष्कार हो रहा है। प्रमुख एकांकीकार डा० रामकुमार वर्मा ने अपने कुछ एकांकियों का सृजन इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के रंगमंच के लिए किया और उसमें सामाजिक एवं ऐतिहासिक विषय-वस्तु का संयोजन किया। मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं का

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले उपेन्द्रनाथ अश्क आज प्रमुख एकांकीकार हो गए हैं। अन्य एकांकीकारों में जैनेन्द्र, अज्ञेय, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, उग्र, सद्गुरुशरण अवस्थी, विष्णु प्रभाकर इत्यादि प्रमुख हैं।

इधर एक नवीन शैली के नाटक लिखे जा रहे हैं जिन्हें रेडियो नाटक कहा जा सकता है। इनमें इस युग की नितान्त नवीन नाट्य-शैली का परिचय मिलता है। यह नाट्य-शैली भी पश्चिमी देशों की देन है। मण्डन शिल्प के आधार पर डा० दशरथ ओझा ने रेडियो नाटक के ६ मुख्य भेदों का उल्लेख किया है— १—रेडियो रूपक, २—फीचर, ३—ध्वनि नाट्य (मनोवैज्ञानिक) ४—स्वोक्ति, ५—फैन्टेसी (भावनाट्य या ऋतु संबंधी), ६—ध्वनि गीति रूपक, ७—रिपोर्टाज, ८—जननाटक तथा ९—व्यंग्य। रेडियो नाटक की इस नितान्त अभिनव प्रवृत्ति ने नाट्य साहित्य को विशेष समृद्ध किया है। प्रसिद्ध रेडियो नाटककारों में सुमित्रानन्दन पन्त, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, चिरंजीत, सुशील इत्यादि हैं।

हिन्दी-उपन्यास साहित्य

हिन्दी में उपन्यास आधुनिक युग की देन है। यो तो प्राचीन भारतीय साहित्य में कथा-साहित्य का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'बृहद्-कथा' मिलता है और संस्कृत में भी पौराणिक आख्यान तथा अन्य उपन्यास-जातीय काव्य मिलते हैं किन्तु आधुनिक युग में उपन्यास एक विशेष टेकनीक पर रचित कथा-गाय है, जिसका मुख्य आधार यथार्थवाद है। प्राचीन कथा-साहित्य में जीवन का कल्पना-जन्य-विवेचन मिलता है। आधुनिक युग में उपन्यास का प्रादुर्भाव पाश्चात्य प्रणाली पर ही हुआ है भारतीय परम्परा में नहीं। हिन्दी में जब उपन्यास साहित्य का विकास हुआ तब तक पाश्चात्य साहित्य में इसका पूर्ण रूपेण विकास हो चुका था और अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से बंगला में भी धड़ाधड़ उपन्यास निकल रहे थे। हिन्दी में यह प्रवृत्ति वहीं से आयी। भार-तेन्दु युग में बंगला के बहुत से उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद हुआ। गदा-धरसिंह ने बंगविजेता और दुर्गेशनन्दिनी, राधाकृष्णदास ने स्वर्णलता, मरता क्या न करता, कार्तिकप्रसाद खत्री ने इला, प्रमीला, जया, मधुमालती इत्यादि,

राधाचरण गोस्वामी ने जावित्री, मृगमयी, बिरजा इत्यादि बंगभाषा के उपन्यासों के अनुवाद किए। यह अनुवादों की परम्परा बीसवीं श० के प्रथम चरण तक अबाध रूप से चलती रही।

प्रथम उत्थान—(सन् १८५० से १९०० तक) हिन्दी के मौलिक उपन्यासों का उद्भव भी भारतेन्दु युग में ही हो गया था। आचार्य शुक्ल ने लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' को हिन्दी में अंग्रेजी दंग का पहला उपन्यास कहा है। इसमें बड़ी साधारण सी कथा है—एक अमीर के बिगड़ने और अपने एक सच्चे मित्र की सहायता से सुधरने की घटना है। इसमें नैतिक उपदेश की बहुलता है। आचार्य ह० प्र० द्विवेदी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' को हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास मानते हैं। इसमें भी लेखक का उद्देश्य वृद्ध विवाह के दोष दिखाकर कन्याओं की शिक्षा का समर्थन है। भारतेन्दु काल के अन्य बहुत से लेखकों ने भी उपन्यास साहित्य की अभिवृद्धि की। इनमें बाबू राधाकृष्णदास के 'निःसहाय हिंदू' और पं० बालकृष्णदास भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' दो उपदेशात्मक उपन्यास विशेष प्रसिद्ध हुए। इस युग के उपन्यासों की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति नीति एवं उपदेश का आधिक्य है। बालकृष्ण भट्टजी पर स्पष्टतया संस्कृत के हितोपदेश की छाप दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः नीति और उपदेश की अधिकता रहते हुए भी मनोरंजन ही इन उपन्यासों का लक्ष्य था। इसका कारण साहित्य के इस अविकसित अङ्ग का पर्याप्त विकास करना था। फिर भी इन उपन्यासों में आधुनिक युग की चेतना, जनवादी विचारधारा और यथार्थ-चित्रण भी मिलते हैं। आलंकारिक, उपदेशात्मक एवं मनोरंजक शैली का प्राधान्य होते हुए भी इस युग के उपन्यासों में स्पष्टतया यथार्थवाद की ओर रुझान है। आगे चलकर उपन्यास-साहित्य के तृतीय उत्थान में इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास प्रेमचन्द में मिलता है।

द्वितीय उत्थान—(सन् १९०० से १९१५ तक) इस काल में हिन्दी उपन्यास में ऐय्यारी और तिलिस्मी उपन्यासों का प्राधान्य हो गया। आचार्य ह० प्र० द्विवेदी के शब्दों में इन उपन्यासों की प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—“इन में अद्भुत और असाधारण घटनाओं की ऐसी रेल-पेल है कि पाठक का चित्त

धक्का खाकर आगे बढ़ता जाता है- उसे कथानक के गठन और चरित्र के विकास की बात याद ही नहीं रहती। अतिप्राकृत, अद्भुत और असाधारण घटनाओं से आश्चर्यजनक परिस्थितियों का निर्माण तिलस्माती कथानकों का प्रधान आकर्षण था।^१ देवकीनन्दन खत्री इस परम्परा के उद्घाटक थे। इनकी चन्द्रकाँता और चन्द्रकाँतासंतति उन दिनों बहुत लोकप्रिय हुईं। शुक्लजी ने इन घटना वैचित्र्यपूर्ण किस्सों में जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का प्रयत्न न देखकर इन्हें साहित्य कोटि में नहीं माना है। दूसरे मौलिक उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी है। इन्होंने अपने उपन्यासों में सामाजिक जीवन का वासना के रंग में रंगा चित्र प्रस्तुत किया जो विशेष उच्चकोटि का नहीं है। दूसरे इनकी शैली पूर्णतया उर्दू शैली हो गई इस दृष्टि से इनका महत्व कम हो जाता है। इसी काल में प्रसिद्ध कवि अयोध्यासिंह उपाध्याय और बाबू ब्रजनन्दनसहाय ने भी रचना की। उपाध्यायजी की रचनाओं में ठेठ हिंदी का ठाठ है और ब्रजनन्दनसहाय के उपन्यासों में भाव-प्रधानता। इस काल के मौलिक उपन्यासों का लक्ष्य केवल मनोरंजन ही है। हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भिक काल में जो अनुवाद की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है उसका विकास इस युग में भी पर्याप्त हुआ। इस युग में उर्दू, अंग्रेजी और बंगला भाषा के उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद पर्याप्त मात्रा में हुआ। इस काल में बंगला के श्रेष्ठ सामाजिक उपन्यासों का अनुवाद हुआ, इनमें रवीन्द्रनाथ टैगोर के नाटकों का भी अनुवाद हुआ। इस प्रवृत्ति का प्रभाव परवर्ती हिन्दी उपन्यासों पर देखा जा सकता है। बंगला के उपन्यासों ने हिन्दी के उच्चकोटि के उपन्यासों के लिए आदर्श प्रस्तुत किया। इनका विवेचन तृतीय उत्थान में करेंगे। बंगला से अनुवाद करने वालों में पं० रूपनारायण पाण्डेय, बाबू गोपालराम गहमर और पण्डित ईश्वरीप्रसाद अपना विशेष महत्व रखते हैं।

इस प्रकार इस उत्थान में अनूदित उपन्यासों के अतिरिक्त जो मौलिक उपन्यासों की रचना हुई वे चार प्रकार के हैं—तिलस्मी, साहसिक, जादूसी एवं रोमानी। इन विशेषताओं के कारण ही इस युग में उपन्यास साहित्य में यथार्थवाद की अपेक्षा कल्पना की ओर अधिक रुझान है।

तृतीय उत्थान—(सन् १९१६ से १९३५ तक) तृतीय उत्थान में उप-

न्यास सम्राट प्रेमचन्द का प्रादुर्भाव हुआ और उपन्यास साहित्य का सर्वाङ्गीण विकास हुआ। अब तक उपन्यास-निर्माण का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन था। प्रेमचन्द ने सर्व प्रथम यथार्थ की भूमिका पर चरित्र-चित्रण की ओर पूर्ण-रूपेण ध्यान दिया और मानव-जीवन और मुख्यतया कृषक वर्ग एवं राष्ट्रीय आन्दोलन को अपने उपन्यासों में बड़ी संवेदनशील शैली में प्रदर्शित किया। इसलिए उन्हें कुछ परिस्थिति-चित्रण भी करने पड़े जो बड़े सजीव एवं यथार्थ हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता उनकी सरलता एवं अकृत्रिमता ही है। वस्तुतः हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवादी विचारधारा का उचित प्रकाशन प्रेमचन्द से ही प्रारंभ होता है। वैसे तो भारतेन्दु युग में भी यथार्थ की प्रवृत्ति थी किन्तु उस समय इसका मूल राष्ट्रीय चेतना थी और अब जीवन की विविध परिस्थितियाँ। इसीलिए इस युग की यथार्थानुभूति में वेदना की विवृति है। आचार्य ह० प्र० द्विवेदी ने प्रेमचन्द का महत्व बड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है—“प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित, अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज थे; पदों में कैद, पद-पद पर लंछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जर्जरस्त बकील थे; गरीबों और बेकसों के महत्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख, और सूख बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। भोंपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचे वाले से लेकर बैंकों तक, गाँव से लेकर धारासभाओं तक, आपको इतने ही कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता।” सारांश यह है कि प्रेमचन्द ने जीवन के विस्तृत पक्ष का ईमानदारी के साथ उद्घाटन करके उपन्यास साहित्य को कला की पूर्ण कृति बनाने का अद्भुत प्रयत्न किया है। तत्कालीन युग की सभी प्रकार की परिस्थितियों का परिचय प्रेमचन्द के उपन्यासों में उपलब्ध है। इसीलिए प्रेमचन्द उपन्यास सम्राट के गौरवपूर्ण आसन पर बैठ सके हैं। आधुनिक उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता मानवतावादी दृष्टि एवं यथार्थ की अनुभूति का पूर्ण परिपाक प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है।

इस उत्थान के दूसरे महत्वपूर्ण लेखक जयशंकरप्रसाद हैं जो अपने

‘कंकाल’ में समाज के वर्तमान नर कंकाल का चित्र उतारने में सफल हुए हैं। इस उपन्यास में प्रसाद जी ने उपन्यास में भावप्रधान एवं कल्पना-प्रवण शैली का प्रयोग करके नई संभावनाओं को जन्म दिया। इस उपन्यास में तत्कालीन समाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा की गई है। कंकाल में धर्म के नाम पर नैतिकता का शोषण दिखाकर लेखक ने कटु व्यंग्य किया है। कंकाल के अन्दर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद एवं प्रकृतवादी विचारधारा का अपूर्व सम्मिश्रण है। आगे चलकर जो समाजिक कुरूपताओं को दिखाने का प्रयत्न हुआ और प्रकृतवादी उपन्यासों की परंपरा चली उसमें कंकाल का बहुत योग है। प्रसाद जी की तितली में लेखक की नारी भावना का प्रकाशन है। तितली में प्रकृतवादी जीवन के स्थान पर भौतिक भूख, दुःख इत्यादि का चित्रण प्रधान हो गया है। इसमें समाज पर जो व्यंग्य है वह इतना उधरा नहीं है और पात्रों के जीवन के माध्यम से ही प्रकट है। तितली में लेखक की करुणा तितली के साथ ही खेतों और खलिहानों में उमड़ पड़ी जहाँ आर्थिक शोषण का नग्न नृत्य हो रहा है। उन ग्रामीण भोंपड़ियों में दुःख-दर्द और भूख का करुण चित्रण है।

इस युग में प्रेमचंद की भाँति ही कुछ अन्य समाजिक उपन्यासकार भी हुए जिनमें पं० विश्वंभरनाथ कौशिक (माँ और भिखारिणी के लेखक), बाबू प्रताप नारायण श्रीवास्तव (विदा, विकास, विजय और विसर्जन के लेखक), श्री जैनेन्द्रकुमार (तपोभूमि, सुनीता, परख, कल्याणी आदि के लेखक) प्रभृति प्रमुख हैं। इनके उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक स्थिति के चित्र मिलते हैं।

इस युग के वृन्दावनलाल वर्मा अपनी ऐतिहासिकता के साथ उपन्यास क्षेत्र में नई भावनाओं को लेकर प्रकट हुए। वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में नई उद्भावनाओं के साथ प्राचीन खंडहर का मेल करके नये ढंग से इतिहास और साहित्य का समन्वय प्रस्तुत किया है। इनके बहुत से उपन्यास हैं जिनमें आँसी की रानी, गढ़कुण्डार, विराटा की पद्मिनी और मृगनयनी प्रमुख हैं। इन सभी उपन्यासों में लेखक का दृष्टिकोण पूर्णतया समाज मुखापेक्षी रहता है।

चतुर्थ उत्थान— (सन् १९३६ से आज तक) उपन्यास साहित्य में जैनेन्द्र को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति में बड़ी सफलता मिली है। इनके उपरान्त तो इस प्रकार के वैयक्तिक अध्ययन की परंपरा ही चल पड़ी। बाबू गुलाबराय जी ने इस श्रेणी के उपन्यासों की विशेषताएँ निरूपित करते हुए कहा है “आधुनिक उपन्यासों में मनुष्य के वैयक्तिक इतिहास के आधार पर उसके अवचेतन मन की कुंजी से उसके चारित्रिक रहस्यों का उद्घाटन किया जाता है। व्यक्ति की दुर्बलताएँ सामाजिक और मानसिक कारणों के आलोक में मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय बन गई हैं।” मनोविश्लेषण प्रधान उपन्यासकारों में जैनेन्द्र जी के अतिरिक्त भगवती प्रसाद वाजपेयी, इलाचंद्र जोशी और नरोत्तम नागर प्रमुख हैं। इन सबमें इलाचंद्र जोशी अपनी गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि एवं फ्रायड्ज़ीन प्रभाव के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मनोवैज्ञानिकों की भाँति मन के चेतन और अवचेतन स्तरों को स्वीकार करके अपने उपन्यासों में प्रदर्शित किया है। जोशी जी ने ‘सन्यासी’ उपन्यास में मनोवैज्ञानिक सत्यों की खोज में जीवन के जिन गहन और अज्ञातस्तरों का उद्घाटन किया है उससे उपन्यास क्षेत्र में एक नवीन भावना का उद्बोधन और एक नई शैली का प्रणयन हुआ है। जीवन के बाह्य तथा आन्तरिक भाव-प्रति-भावों का भीषण संघर्ष और उनका सामंजस्य हमें प्रथमबार सन्यासी में मिलता है। इसमें लेखक ने उल्लास और विषाद का पूर्ण सामंजस्य प्रस्तुत किया है।

दार्शनिक तथ्यों के विवेचन से पूर्ण और जीवन संबंधी गहन विचारों का बड़ा ही सुलभा हुआ रूप प्रस्तुत करने वालों में अज्ञेय जी प्रमुख हैं। इनका ‘शेखर: एक जीवनी’ हिंदी-उपन्यास संसार में टाइप बन गया है। इसमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में दार्शनिकता का पुट देकर अज्ञेय जी ने एक नूतनता ला दी है। इसके बाद ‘नदी के द्वीप’ में अज्ञेयजी प्रकृतवादी अधिक हो गए हैं। इसमें सेक्स की भावना अधिक उभर आई है। आज-कल मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास लेखकों ने सेक्स को प्रधानता देना शुरू कर दिया है। द्वारिकाप्रसाद मिश्र का ‘घेरे के बाहर’ यौन वर्जनाओं की

अभिव्यक्ति में ही मनोविश्लेषणत्मक यथार्थवाद की इति मानता है ।

रोमानी प्रवृत्ति को प्रधानता देने वाले अशक जी भी उल्लेखनीय हैं । इसी कोटि के अन्य लेखकों में उग्रजी, रामचंद्र तिवारी, विष्णु प्रभाकर हैं ।

वर्तमान काल में उपन्यासकारों का एक वर्ग विदेशी साहित्य की साम्यवादी धाराको लेकर चल रहा है । इनमें सर्वप्रथम सफल प्रयत्न करने वालों में यशपाल प्रमुख है । राहुलजी भी इसी धारा के लेखक हैं किन्तु अपने ऐतिहासिक इतिवृत्तों के कारण उनके उपन्यास सामाजिक पहलू को छोड़कर इतिहास ही अधिक दिखाई पड़ते हैं । इस धारा के अन्य लेखकों में डा० रांगेय राघव, उपेन्द्रनाथ अशक, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, गंगाप्रसाद मिश्र इत्यदि मुख्य हैं । इन सभी कलाकारों में सामाजिक विषमता, दरिद्रता एवं वर्ग संघर्ष के भाव मनोविश्लेषणवाद की धारा से समन्वित होकर व्यक्त हुए हैं । इन्होंने समाज के नवीन स्तर भेदों का सविस्तार वर्णन किया है और उसके बीच सामाजिक जीवन के छोटे-से छोटे संबंधों का आधुनिक परिस्थितियों के अनुरूप निराकरण प्रस्तुत किया है । इन्होंने भी पुरुष, प्रेम, वासना, जातिगत धर्मगत रूढ़ियों एवं धारणाओं को जीवन के नवीन मूल्यों की कसौटी पर कसकर देखा है, और उस पर कहीं तो तीव्र व्यंग्य किया है, कहीं गहरी करुणा की धारा प्रवाहित की है । उदाहरणार्थ, रांगेय राघव ने अपने 'घरोंदे' नामक उपन्यास में अन्तर-जातीय-प्रणय को वास्तविक परिणय के रूप में सामाजिक मान्यता दिलादी है । इन सामाजिक उपन्यासों में मानवता की पुकार का स्वर नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की चेष्टा है । इसमें आर्त व्यक्ति के करुण-क्रन्दन को सुना गया है और उसे आश्वासन देने के उपायों का चिन्तन किया गया है । साथ ही प्रेम, पाप-पुण्य, विवाह, इत्यादि सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रति नवीन दृष्टिकोण अपनाने की चेष्टा भी है ।

सारंग यह है कि वर्तमानकाल के उपन्यास साहित्य में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, एक साम्यवाद पर आधारित यथार्थवाद की और दूसरी मनोविश्लेषण की । वर्तमान युग के उपन्यासों में यथार्थ की प्रवृत्ति कई रूपों में प्रकट हुई है, जैसे-ऐतिहासिक यथार्थवाद हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाणभट्ट की आत्मकथा और वृन्दावनलाल वर्मा की मृगनयनी में; प्रकृतवादी

यथार्थवाद अश्वेय के नदी के द्वीप तथा उग्रजी, इलाचंद्र जोशी और यशपाल की कुछ रचनाओं में; अतियथार्थवाद आनंदाप्रसाद मिश्र के 'घेरे के बाहर' में; समाजवादी यथार्थवाद रांगेय रांघव के 'घरोंदे' तथा यशपाल की कुछ रचनाओं में; मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद इलाचन्द्र जोशी, डा० देवराज एवं अश्वेय की कुछ रचनाओं में मिलता है।

हिन्दी-कहानी साहित्य

यों तो मानव समाज में कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति आदिम काल से चली आती है और प्राचीन भाषाओं के साहित्य में इसकी परम्परा भी सुरक्षित है किंतु हिन्दी में कथा साहित्य का आविर्भाव बीसवीं शताब्दी की देन है। प्राचीन वैदिक साहित्य में भी कहानी कहने की प्रवृत्ति विद्यमान थी। लौकिक संस्कृत साहित्य में पंचतन्त्र की कहानियाँ प्रसिद्ध ही हैं। पुराणों में कहानी की प्रवृत्ति का उपयोग ज्ञानोपदेश के लिए है। बुद्ध की जातक कथाएँ भी कहानी की प्रवृत्ति का परिचय देती हैं। वस्तुतः कहानी 'कहने का मनोरंजक एवं विशिष्ट ढंग है' जिसके द्वारा बड़े जटिल एवं गहन विषयों को समझाने का प्रयत्न मानव समाज में बहुत प्राचीन समय से ही होता रहा है। आज 'कहानी' शब्द एक विशिष्ट प्रकार की रचना के लिए रूढ़ हो गया है जिसके मुख्य अङ्ग ये हैं—कथावस्तु, चरित्रचित्रण, वातावरण, उद्देश्य और गद्य शैली। इन विशिष्ट अङ्गों में भी एकोन्मुखता, लघु विस्तार, प्रभावान्विति इत्यादि कहानी की प्रमुख विशेषताएँ हैं। आज कहानी का अर्थ गद्य में रचित कहानी ही है।

हिन्दी में कथा-साहित्य का इतिहास डेढ़ सौ वर्ष का है। सरस्वती का प्रकाशन और हिन्दी कहानी का प्रारम्भ दोनों घटनाएँ एक दूसरे से बहुत जुली मिली हैं। प्रारम्भ में इन कहानियों का रूप अंग्रेजी और संस्कृत के नाटकों एवं कहानियों का रूपान्तर मात्र ही था। इस कथा-साहित्य का उद्देश्य केवल लोकरंजन ही था इसीलिए इन कहानियों में लोकरंजन तत्व का प्राधान्य है। उन लेखकों ने अंग्रेजी और संस्कृत नाट्य एवं कथा साहित्य से ऐसे ही प्रेम प्रसंगों की कथाओं को चुना है जिनमें कथानक का विकास दैव

घटनाओं और संयोगों से होता है और इस प्रकार पाठकों की कुतूहल वृत्ति को विकसित करके चरम बिंदु तक ले जाकर उसकी संतुष्टि का प्रयत्न है। धीरे-धीरे हिन्दी में मौलिक कहानियों का सृजन होने लगा और अस्वाभाविक एवं अतिमानुषिक प्रसंगों से भरी कहानियों का स्थान जीवन में घटित होने वाली साधारण घटनाओं को लेकर चलने वाली कहानियों ने ले लिया। यहीं से आधुनिकयुग की हिंदी की साहित्यिक कहानी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

हिन्दी की नाट्य-कहानी-परम्परा का उद्घाटन करने से पूर्व हमें इस से पूर्व लिखी जाने वाली कहानियों का संक्षेप में विश्लेषण कर लेना चाहिये। ये कहानियाँ चार प्रकार की हैं—

१—संस्कृत की पौराणिक तथा अन्य कथाओं को लेकर रची जाने वाली कहानियाँ—इनका प्रारम्भ अठारहवीं श० के पूर्वार्द्ध में हुआ। लल्लूलालजी का प्रेमसागर और सुखसागर तथा सदल मिश्र का नासिकेतोपाख्यान ऐसी ही रचनाएँ हैं। प्रेमसागर और सुखसागर 'भागवत' के आधार पर और नासिकेतोपाख्यान 'उपनिषद्' की एक कथा के आधार पर लिखा गया है। बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी इत्यादि भी संस्कृत की कथाओं के आधार पर लिखी गई हैं।

२—फारसी कहानियों के ढंग पर लिखी जाने वाली अस्वाभाविक एवं अतिमानुषिक कहानियाँ—जैसे लैला-मंजून; शीरीं फरहाद, किस्सए गुलेबकावली, छबीली भटियारिन, किस्सा सादे तीन यार। आचार्य ह० प्र० द्विवेदी ने मुंशी इंशाअल्लाखों की 'रानी केतकी की कहानी' को मुस्लिम प्रभावपन्न परम्परा की अन्तिम कहानी माना है जो अपनी भाषा शैली के कारण साहित्य के मन्दिर में प्रवेश पा गई है।

३—अंग्रेजी के नाटकों को कहानी के रूप में लिखना—सरस्वती के प्रारम्भिक अङ्कों में शेक्सपियर के कुछ नाटकों को कहानी—रूप में लिखने का प्रयत्न हुआ।

४—संस्कृत नाटकों को कहानी रूप में लिखने का प्रयत्न—सरस्वती में संस्कृत की 'रत्नावली,' 'मालविकाग्निमित्र' इत्यादि की कहानी छपी।

किन्तु इन कहानियों में आधुनिक कहानी कला का अभाव है। इसलिए

साहित्यिक दृष्टि से इनका महत्व नहीं है। इन चार प्रकार की कहानियों के अतिरिक्त बंगला से अनूदित गल्प कहानियों का भी अपना विशेष महत्व है। इन कहानियों में विदेशी वातावरण एवं प्रवृत्तियों का अभाव है और भारतीय सुकुमार कल्पनाओं का प्राधान्य। इस दृष्टि से इन कहानियों में सुरुचि थी। वास्तव में छोटी कहानियों का उद्भव सर्वप्रथम अंग्रेजी साहित्य में हुआ। अंग्रेजी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी-छोटी कहानियाँ निकला करती थीं, वैसी कहानियों की रचना उनके अनुकरण पर बंगला में गल्प के नाम पर चल पड़ी और हिन्दी में नए ढंग की कहानियों का बीज बंगाली साहित्यिक कहानियों से ही आया। बंगला से अनुवाद करने वाले दो प्रमुख लेखक बा० गिरिजाकुमार घोष (लाला पार्वतीनन्दन) और बंगमहिला हैं। बंग महिला ने कुछ मौलिक कहानियों का भी सृजन किया जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

प्रथम उत्थान (सन् १९०० से १९१०) वस्तुतः सन् १९०० से ही हिन्दी कहानी का प्रारंभ होता है। सरस्वती के प्रथम वर्ष (सन् १९००) में ही किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' नामक कहानी छपी। शुक्ल जी के शब्दों में "यदि इन्दुमती किसी बंगला कहानी की छाया नहीं है तो हिन्दी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है।"

'इन्दुमती' में आधुनिक युग की सबसे प्रमुख विशेषता यथार्थ की प्रवृत्ति का अभाव है। इसका कथानक सामान्य दैनिक जीवन जैसा न होकर राजपूती जीवन का है जिसमें आजमगढ़ के राजकुमार चन्द्रशेखर ने इब्राहीम लोदी को मार कर देवगढ़ के राजा को प्रसन्न कर उसकी इकलौती कन्या इन्दुमती से विवाह किया है। इस दृष्टि से यह आधुनिक युग की मानव केन्द्रित साहित्यिक कहानी नहीं ठहरती। सन् १९०३ में पं० रामचन्द्र शुक्ल की मौलिक कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' और सन् १९०७ में बंग महिला की 'दुलाईवाली' प्रकाशित हुई। शुक्लजी की कहानी ह० प्र० द्विवेदी जी के शब्दों में "आधुनिकता के लक्षण से युक्त अवश्य थी और और किशोरीलाल जी की पूर्व प्रकाशित दोनों कहानियों से श्रेष्ठ थी फिर भी 'दुलाईवाली' में जैसा निखार है वैसा इसमें नहीं है।" आधुनिक साहित्यिकता की दृष्टि से 'दुलाईवाली' ही हिन्दी की सर्व प्रथम मौलिक कहानी है। इसका कथानक सामान्य

जीवन से लिया गया है। एक छोटी सी घटना के द्वारा लेखक ने बड़ी भाव प्रधान कहानी की सृष्टि की है। कथानक संक्षेप में इस प्रकार है—बंशीधर अपनी पत्नी के साथ अपने मित्र नवलकिशोर से मिलने के लिये बनारस से मुगलसराय आते हैं पर मित्र से नहीं मिल पाते। मिर्जापुर स्टेशन पर नवलकिशोर अपनी पत्नी के साथ 'दुलाईवाली' के रूप में बैठे मिले। पत्नी पति से छूट जाने के कारण विलाप कर रही थी। आगे इलाहबाद स्टेशन पर जब बंशीधर उसके पति का पता लगाने जाते हैं तो नवलकिशोर भेष बदलकर फिर वास्तविक रूप में प्रकट हो जाते हैं और इस प्रकार एक मनोरंजक कहानी तैयार हो जाती। इसमें भाषा-विषयक नवीन ग्रामीण प्रयोग हैं और रेल के डिब्बे का तथा पति के बिछुड़ने पर अकेली पत्नी के मनोभावों का यथार्थ चित्रण बड़ा सुन्दर है। यह कहानी पूर्णतया मानव केन्द्रित है तथा प्राचीन कहानियों के कथानक, शैली एवं वातावरण से भिन्न प्रकार के तत्वों से संयोजित है। इसी समय के आसपास कुछ और कहानियाँ भी सरस्वती में प्रकाशित हुईं। किन्तु हिन्दी कहानी का प्रथम उत्थान एक प्रकार से नवीन प्रयोगों का काल है। हिन्दी कहानी का स्थिर रूप द्वितीय उत्थान में दिखाई पड़ता है। मास्टर भगवानदास, माधवप्रसाद मिश्र, मैथिलीशरण गुप्त, विश्वम्भरनाथ जिज्जा, स्वामी सत्यदेव, वृन्दावनलाल वर्मा इत्यादि इस उत्थान के कुछ कहानीकार प्रसिद्ध हैं। फिर भी इस उत्थान की तीन कहानियाँ ही साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्व रखती हैं—इन्दुमती, ग्यारह वर्ष का समय और दुलाई वाली।

द्वितीय उत्थान (सन् १९११ से १९१६)—हिन्दी कहानी के विकास में एक महत्वपूर्ण मोड़ जनशङ्करप्रसाद की 'इंदु' मासिक पत्रिका में सन् १९११ में प्रकाशित 'ग्राम' नामक कहानी से उपस्थित होता है। इस कहानी में श्रृणु के फलस्वरूप पैदा हो गई दयनीय स्थिति का चित्रण है। इस कहानी में प्रसाद जी ने मानव व्यापार की व्यंजना सजीव प्रकृति की देखरेख में चलाने की योजना प्रस्तुत की है। इस साँकेतिक पृष्ठभूमि पर कहानी के व्यापार में मार्मिकता आ जाती है। यह कहानी वातावरण प्रधान है, जिसके सब चित्र व्यंजना सापेक्ष है। प्रसादजी ने 'ग्राम' कहानी के द्वारा वातावरण प्रधान

कहानियों में प्रकृति चित्रण की परम्परा स्थापित कर कहानी-कला को ठोस साहित्यिक रूप प्रदान किया है। इसके उपरान्त सन् १९१२ में प्रसाद जी की कुछ और कहानियाँ भी प्रकाशित हुईं जैसे, चन्दा, तानसेन, रसिया बालम, मदन मृणालिनी। 'रसिया बालम' के कथानक पर शीरी फरहाने की छाप है। अन्य कहानियाँ जीवन की सामान्य घटनाओं पर रचित हैं। चन्दा कहानी में कथानक, सम्वाद एवं चरित्रोद्घाटन का सुन्दर संयोजन है। प्रसाद जी की कहानियाँ प्रायः भाव प्रधान हैं। इस युग के प्रतिनिधि लेखक विश्वम्भरनाथ कौशिक, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचन्द, चतुरसेन शास्त्री, पं० ज्वालादत्त शर्मा हमें प्रथम महायुद्ध के अन्त तक पहुँचा देते हैं। सन् १९१३ में कौशिक जी की पहली और बड़ी प्रसिद्ध कहानी 'रक्षा बंधन' 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इसी समय राजा राधिकारमणसिंह की 'कानों में कँगना' इन्दु में निकली। इसमें प्रसादजी की भावात्मक शैली का स्वरूप मिलता है। सन् १९१४ में पं० ज्वालादत्त शर्मा की 'विधवा' और 'तस्कर' कहानियाँ निकली। सन् १९१५ में गुलेरी जी की अत्यन्त लोकप्रिय एवं उत्कृष्ट कहानी 'उसने कहा था' सरस्वती में छपी। गुलेरी जी ने यद्यपि तीन ही कहानियाँ लिखी किन्तु उनकी 'उसने कहा था' हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट कहानियों में एक है। शुक्लजी ने इस अद्वितीय कहानी के कला कौशल का उद्घाटन बड़े मार्मिक शब्दों में किया है—

“इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप भाँक रहा है—केवल भाँक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार था कराह नहीं रहा। कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की वीभत्स विकृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता। इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।”

गुलेरी जी की यह कहानी हिन्दी की सबसे पहली सर्वाङ्गपूर्ण यथार्थवादी कहानी है और कला के प्रत्येक अङ्ग पर पूरी उतरती है। द्वितीय उत्थान के अन्तिम चरण में उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द हिन्दी-कहानी क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। इनके आने से इस क्षेत्र में अपूर्व परिवर्तन हो गया। इन्होंने अपनी

कहानियों में भारतीय सामाजिक जीवन को प्रस्तुत किया। इन्होंने विभिन्न कहानी की टेकनीक के बीच अपनी नवीन टेकनीक बनाई। वे पूर्णतया जनता के लेखक थे और मूक और दीन किसानों की भावनाओं को वाणी दे रहे थे। उन्होंने पहली बार निम्न वर्ग को साहित्य में प्रतिष्ठित किया। इस सब का फल यह हुआ कि प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रायः घटना-प्रधान और चरित्र प्रधान हो गई हैं। सन् १९१६ में उनकी 'पंचपरमेश्वर' कहानी प्रकाशित हुई। आचार्य ह० प्र० द्विवेदी के शब्दों में 'यह कहानी मनुष्य जीवन की यथार्थ जटिलताओं के भीतर से निकलकर उसकी यथार्थ समस्याओं को स्पर्श करती है और सत्य को स्वीकार करने की उस महिमाशालिनी क्षमता का परिचय देती है जो अनेक व्यवधानों के कारण सहज ही नहीं दिखाई देती।' प्रेमचन्द ने कहानी के क्षेत्र में नई सम्भावनाओं का मार्ग खोल दिया। इस प्रकार द्वितीय उत्थान में हिन्दी कहानी अपने आधुनिक सुष्ठ एवं साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित हो गई थी।

तृतीय उत्थान (सन् १९२० से १९३५)—इस उत्थान में दो प्रतिनिधि कहानीकार प्रसाद और प्रेमचन्द थे। प्रेमचन्द भारतीय जीवन की सामूहिक और सामयिक परिस्थितियों के चित्रण में अन्यतम हैं। उनके सहयोगी कलाकारों में सुदर्शनजी, पदुमलाल, पुन्नालाल, बख्शी, शिवपूजनसहाय, रायकृष्णदास, प्रभृति प्रसिद्ध हैं। सुदर्शनजी की कहानियों का उद्गम स्थल वही है जो प्रेमचन्द का मूल प्रेरणा स्रोत है किन्तु आगे चलकर वे एक उपदेशक तथा प्रचारक का रूप लेते हुए प्रतीत होते हैं। बख्शीजी ने कुछ भावात्मक कहानियों के लिखने के बाद इस क्षेत्र को छोड़ दिया। चंडीप्रसाद हृदयेश ने अपनी संस्कृतनिष्ठ शैली में भावात्मक कहानियों की रचना की। रायकृष्णदास ने बड़ी कवित्वपूर्ण एवं सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन करने वाली प्रसाद शैली की कहानियाँ लिखीं। इसी उत्थान में छायावादी कवियों ने कहानी साहित्य को समृद्ध बनाया। पन्त, निराला, महादेवी और भगवतीचरण वर्मा की अनेक सुन्दर कहानियाँ प्रकाशित हुईं। इस प्रकार इस उत्थान में हिन्दी-कहानी-साहित्य अपने पूर्ण विकसित रूप में प्रकट हुआ। इस काल के कुछ प्रसिद्ध कहानीकारों ने आगे की कहानी-साहित्य की प्रवृत्तियों का स्वरूप बनाया।

इनमें जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पांडेय बेचन शर्मा उग्र इत्यादि मुख्य हैं। इस उत्थान की कहानियों में मुख्यतया चार प्रकार की हैं—

१—घटनाप्रधान—इनमें घटनाओं के विकास के साथ लेखक संवेदन-शीलता भी पैदा करने के लिए कुछ मार्मिक स्थल रखता है। जैसे प्रेमचन्दजी, कौशिक, सुदर्शन, जैनेन्द्र इत्यादि की अधिकांश कहानियाँ।

२—भावप्रधान—घटना के सूत्र को रमणीय कल्पना में पिरोकर एवं सुन्दर सम्वादों के द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने वाली—जैसे जयशंकर प्रसाद तथा रायकृष्णदास की कहानियाँ।

३—कवित्वपूर्ण—परिस्थितियों का विशद एवं अलंकृत वर्णन करने वाली तथा घटना का क्षीणसूत्र लेकर चलने वाले चंडीप्रसाद हृदयेश की उन्मादिनी, शान्तिनिकेतन आदि।

४—दार्शनिक एवं ऐतिहासिक तथ्यप्रधान—प्रसादजी ने कुछ कहानियों में भावुकता के साथ थोड़ी दार्शनिकता का पुट भी दिया है जैसे 'आकाशदीप' में। प्रसादजी ने मधुर या मार्मिक प्रसंग के सहारे ऐतिहासिक काल का खण्ड-चित्र भी दिखलाया है जैसे 'गुंडा' में, 'आकाशदीप' में। रायकृष्णदास की गहूला भी ऐसी कहानी है।

चतुर्थ उत्थान (सन् १९३६ से आज तक)—इस उत्थान में कुछ पिछले खेबे के कहानीकारों ने कहानी के शैली पक्ष को नवीन दिशाओं में प्रवाहित किया। इन दिशाओं में मुख्य ये हैं—मनोविश्लेषण, वातावरण-चित्रण, तथा चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्व एवं विरोधाभास को दिखाने के लिए परिस्थितियों का निर्माण। मनोविश्लेषण को प्रमुखता देने वाले जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी हैं। जैनेन्द्रजी ने मानव-जीवन की असाधारण परिस्थितियों में उसके चरित्रों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना आरम्भ किया। उनकी 'चलितचित्त' नामक कहानी में एक धनी को हीरे की अँगूठी पड़ी मिलती है और उसके चित्त को अव्यवस्थित कर देती है। उसके पास उससे कहीं बढ़कर मूल्य की अँगूठियाँ हैं पर उस असाधारण परिस्थिति में उसके मन के अन्तर्गत में जो उथल-पुथल मचती है उसका चित्रण जैनेन्द्रजी ने बढ़ी कुशलता से किया है।

यों तो प्रेमचन्द की कहानियों में भी मनोवैज्ञानिक चित्रण मिलता है किन्तु वह बहुत स्थूल था। इसी समय अज्ञेय अपनी मनोविश्लेषणकारी कहानियों को लेकर प्रविष्ट हुए। उनकी 'विपथगा' की सभी कहानियाँ विभिन्न व्यक्तित्व का उद्घाटन करती हैं। 'अकलंक', 'शत्रु' और 'रोज' इत्यादि कहानियों में मनोविश्लेषण बड़ा ही स्वाभाविक एवं मार्मिक है। ना-संग-प्रधान कहानी लिखने वालों में भी अज्ञेयजी प्रसिद्ध हैं। इनकी 'रोज' कहानी में वातावरण ही की ध्वनि-बहन करने वाले मानव-रूपों का अन्तर्गता हुआ है और वातावरण का प्रभाव सम्पूर्ण कहानी में अन्वित है। इसी युग में कुछ व्यंग्यप्रधान कहानियों का भी सृजन हुआ जैसे अज्ञेय की 'शत्रु' और चतुरसेन शास्त्री, उग्र आदि की सामाजिकता पर आघात करने वाली कुछ कहानियाँ।

इस युग में कुछ रोमानी कहानियों का भी निर्माण हुआ। उग्रजी अपने व्यंग्य में कटु होते-होते इस प्रवृत्ति को अपना चुके थे। 'अश्क' और 'पहाड़ी' भी आरम्भ में रोमानी ही रहे हैं। अन्य रोमानी ढङ्ग की कहानी लिखने वालों में धर्मवीर भारती, श्रीराम शर्मा, शम्भूनाथसिंह, आरसीप्रसादसिंह, देवीदयाल चतुर्वेदी आदि हैं। सामाजिक जीवन के आर्थिक आधार और तन्मय विषमताओं का चित्रण करने वाले कहानीकारों में यशपाल प्रमुख हैं। इन्होंने नवीन दृष्टिकोण से समाज के स्तर-भेद करके छोटे-से-छोटे सम्बन्धों का सुन्दर विश्लेषण किया है। यथार्थ इनका साधन रहा है और सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए आक्रोश एवं कठुणा जाग्रत करना, साध्य। इन्होंने समाज की बहुत-सी समस्याओं को कथानकबद्ध किया है। इन्होंने परिवर्तित परिस्थितियों में प्राचीन रूढ़ियों का खण्डन नहीं किया वरन् स्त्री-पुरुष, प्रेम, वासना, जातिगत, धर्मगत एवं अन्यान्य रूढ़ियों एवं धारणाओं को नई कसौटी पर कसकर देखा है और इसके लिए कहीं तीव्र व्यंग्य किया है तो कहीं कठुणा की धारा प्रवाहित की है। यशपाल की भाँति अन्य प्रगतिवादी कवि एवं उपन्यासकार भी कहानी के क्षेत्र में आए। इनमें मुख्य ये हैं—राहुल, अश्क, डा० रांगेय राघव, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, भगवतशरण उपाध्याय, अमृतलाल नागर, मोहनसिंह सेंगर, प्रभाकर माचवे, राजेन्द्र यादव, विष्णु प्रभाकर, नरेन्द्र शर्मा, कृष्णचन्द्र इत्यादि। डा० रांगेय राघव की कहानियाँ मध्य एवं निम्न वर्ग का

मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करती हैं। श्री चन्द्रकिरण ने भी मध्यवर्गीय एवं मजूर श्रेणी के लोगों को अपनी मार्मिक कहानियों का आधार बनाया।

यों तो हिन्दी कहानी के प्रारम्भिक युग में भी अंग्रेजी, संस्कृत, बँगला एवं मराठी से अनूदित कहानियों की भरमार थी किन्तु वर्तमान समय में इस दिशा में और प्रगति हुई। आज विश्व की अनेक भाषाओं जैसे रूसी, चीनी, फ्रेंच इत्यादि से तो अनुवाद हो ही रहा है, भारतकी अन्य प्रादेशिक भाषाओं की कहानियों का भी हिन्दी में अनुवाद हो रहा है। इन प्रादेशिक भाषाओं में गुजराती, तेलगू, मलयालम, कन्नड़, आसामी इत्यादि मुख्य हैं।

इस प्रकार वर्तमान युग के कहानी की भाव एवं शैली में बड़ी क्रान्ति हो चुकी है। आज जनवादी-विचारधारा एवं मनोविश्लेषणात्मक तथा व्यंग्य-प्रधान शैली पूरी तौर से उभर कर अपने विकसित रूप में प्रकट हो रही है। डा० रांगेय रावव, राजेन्द्र यादव, मोहनसिंह सेंगर, गिरीश अस्थाना, बलवन्त सिंह, विष्णु प्रभाकर प्रभृति कहानीकार नई सम्भावनाओं को लेकर अवतरित हुए हैं। श्री राजेन्द्र यादव ने कहानीकला में अपनी शैली से मौलिक योग दिया है। वैसे तो मनोरंजक मासिक पत्रिकाओं में नित्य नवीन कहानी लेखक दिखाई पड़ते हैं किन्तु उनका स्थायी साहित्य के विवेचन में विशेष महत्व नहीं है।

हिन्दी-निबन्ध-साहित्य

आधुनिककाल हिन्दी गद्य की सर्वतोमुखी उन्नति का काल है। निबन्ध भी गद्य का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। इसका भी इस युग में उद्भव एवं पूर्ण विकास हुआ। वस्तुतः आधुनिक युग में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ बौद्धिकता का भी विकास हुआ और इसी बौद्धिक जिज्ञासा के फलस्वरूप निबन्ध साहित्य का जन्म हुआ। यों तो ११ वीं शताब्दी से ही टीका की परम्परा चल रही थी जिसमें परम्परागत बुद्धिगत विषयों के सिद्धान्त पक्ष का प्रतिपादन, आक्षेपों का खण्डन एवं तर्क द्वारा विषय की स्थापना मिलती है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में — “टीका की इस नई शाखा को हम निबन्ध साहित्य कह सकते हैं। ११ वीं शताब्दी के बाद निबन्ध ग्रन्थों की परम्परा बढ़ती गई।” इस प्रकार हिन्दी साहित्य में निबन्ध साहित्य का आविर्भाव भिन्न रूप में हुआ है। यह

पण्डितों द्वारा धर्म के सुष्ठु रूप स्थापन में व्यवहृत हुआ। अंग्रेजी का एस्से शब्द हिन्दी की इस निबन्ध परम्परा का द्योतन करने में समर्थ नहीं है। शुक्ल जी ने पाश्चात्य एस्से के सामान्य लक्षण इस प्रकार बताए हैं—“आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृङ्खला रखी ही न जाय या जान बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाय।” डा० जानसन ने एस्से को स्वच्छन्द मन की तरंग माना था जिसमें तारतम्य और सुघटन के स्थान पर विशृङ्खलता का प्राधान्य रहता था। शुक्लजी ने ‘स्वच्छन्दता’ एवं ‘व्यक्तिगत विशेषता’ का विवेचन इस प्रकार किया है—“निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ सम्बन्धी सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।” आगे शुक्लजी ने तत्त्वचिंतक या वैज्ञानिक से निबन्ध लेखक का पार्थक्य उसके बुद्धि और भावात्मक हृदय के समन्वय में दिखलाया है।

जो भी हो। आज अंग्रेजी का ‘एस्से’ शब्द हिन्दी के ‘निबन्ध’ को व्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ है। इस प्रकार आधुनिक युग में ही हिन्दी निबन्धों का सूत्रपात हुआ है। किन्तु दयानन्द सरस्वती या श्रद्धाराम फुलौरी के धार्मिक खण्डन-मण्डन के गद्य लेखन में साहित्यिकता का पूर्ण अभाव है। अतः वे शुद्ध साहित्यिक निबन्ध की कोटि में नहीं आ सकते। हिन्दी निबन्ध का जन्म वस्तुतः भारतेन्दु युग में पत्र साहित्य की उन्नति के साथ हुआ। भारतेन्दु से कुछ पहले का राजा शिवप्रसाद का लिखा ‘राजा भोज का सपना’ लेंब के निबन्धों की भाँति है जिसमें एक कल्पित कथानक लेकर मनुष्य के भूँटे अहं-कार और कीर्ति-लिप्सा का बड़े रोचक ढङ्ग से उद्घाटन किया है, किंतु फिर भी सुष्ठु रूप से हिन्दी निबन्ध की परम्परा चलानेवाले भारतेन्दुजी ही हैं। भारतेन्दु

युग के निबन्ध लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र विशेष महत्वपूर्ण हैं। यों तो पं० अम्बिकादत्त व्यास, चौधरी प्रेमधन, राधाचरण गोस्वामी, तोताराम, बालमुकन्दगुप्त आदि भी अच्छे निबन्ध लेखक थे। बालकृष्ण भट्ट की शैली बड़ी रोचक, महाविरेदार एवं चलती हुई है। उनके निबन्ध लेखन-सिद्धान्त से ही इसका अनुमान लगाया जा सकता है—“सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ़ कुन्द की कली के समान दाँत न खिल उठें तो वह लेख ही क्या ?”

भट्टजी ने शुद्ध विचारपूर्ण लेख लिखे हैं जिनमें उनकी गम्भीर विवेचन पद्धति का परिचय मिलता है। इनके निबन्ध विविध विषयों पर मिलते हैं। इनके निबन्धों की एक विशेषता उनका लघु आँकार है। भट्टजी की अपेक्षा प्रतापनारायण मिश्र में स्वच्छन्दता एवं हास्य अधिक है। उनमें कहीं-कहीं ग्रामीणता भी आ जाती है। मिश्रजी ने हिन्दी में हास्यरस के निबन्धों और व्यंग्यात्मक शैली को जन्म दिया। उनके लेखों का चुलबुलापन पाठकों को आकर्षित करने के साथ ही लेखक के व्यक्तित्व का प्रकाशन भी करता है। इनकी लेखनी पूर्ण स्वच्छन्द होकर चलती है इसलिए भाषा का अकृत्रिम प्रवाह और सजीवता सर्वत्र विद्यमान है। इनके निबन्धों के शीर्षक देखिए—दाँत, भौं, वृद्ध, मनोयोग, बात, क्रोध, समझदार की मौत है, इत्यादि। इसी युग के ‘शिवशम्भू के चिट्ठे’ और ‘खत’ के लेखक बाबू बालमुकन्द गुप्त अपनी व्यंग्यात्मक शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। गम्भीर बातों को दिनोदपूर्व ढंग से या व्यंग्य रूप में कहते हुए हृदय का क्षोभ और दुःख अत्यन्त प्रवाहपूर्ण ढंग से व्यक्त करना गुप्तजी की विशेषता है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में निबन्ध साहित्य की रूपरेखा में परिवर्तन हुआ। अब पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ने के साथ ही साप्ताहिक एवं मासिक पत्रों का रंग-रूप भी बदला और उन्होंने गम्भीर रूप धारण किया। इसी समय सरस्वती के यशस्वी सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का आविर्भाव हुआ और गम्भीर साहित्यिक निबन्धों की परम्परा का उद्घाटन हुआ। अब तक के लेखों में देश की परम्परागत भावनाओं, पर्व, त्यौहार इत्यादि विषय रहते थे अतः वर्णनात्मक और भावात्मक दोनों शैलियों का बड़ा सुन्दर साम-

जस्य था । धीरे-धीरे वैयक्तिकता का हास हो रहा था । द्विवेदी युग के प्रसिद्ध निबन्ध लेखक माधवप्रसाद मिश्र, बाबू गोपालराम गहमर, बाबू बालमुकन्द गुप्त, पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और अध्यापक पूर्णसिंह आदि हैं । द्विवेदीजी ने भाषा शैली का परिष्कार किया । फिर भी उनका महत्व एक शैलीकार के रूप में नहीं, किन्तु शुद्ध भाषा प्रणाली स्थापित करने में है । भाषा परिष्कार के साथ विचारों को शालीन बनाने के काम भी हुए इससे निबन्ध बौद्धिकता में बढ़ गये, हार्दिकता की उसमें कमी होने लगी । इसीलिए द्विवेदीजी के अधिकतर लेख 'बातों का संग्रह' मात्र हैं, उनमें स्थायी साहित्य के तत्वों का अभाव है । किन्तु इसी युग के तीन प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट निबन्ध लेखक माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्णसिंह हैं । मिश्रजी के निबन्ध भावात्मक होते थे और धारावाहिक चलते थे । इनमें भारत की प्राचीन संस्कृति की दुर्दशा एवं देशभक्ति की भावना जोर मार रही है । इनमें बड़ी मार्मिक एवं ओजस्वी शैली के दर्शन होते हैं । गुलेरीजी में भाषा और शैली की प्रौढ़ता के साथ विचारों की प्रगतिशीलता एवं ज्ञान की अपूर्व जिज्ञासा दिखलाई पड़ती है । इनके व्यंग्य में अधिक तीव्रता एवं मार्मिकता है । सरदार पूर्णसिंह की विशेषता का वर्णन श्री विजयशंकरमल्ल ने इन शब्दों में किया है—“निबन्ध निबन्धों की परम्परा को एक नई लय और गति के साथ नये मानवतावादी मार्ग पर ले जाने का कार्य उदार प्रकृति और परम भावुक लेखक सरदार पूर्णसिंह ने किया ।” मल्लजी के अनुसार अपनी नये ढङ्ग की व्यञ्जनात्मक शैली एवं भावों को मूर्तिमत्ता के साथ प्रस्तुत करने के कारण इनके निबन्ध पहले से चली आती भावात्मक शैली के अन्तर्गत नहीं आते । उनके मत से इन्हें प्रभावाभिव्यञ्जक कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि सजीव चित्रोपम वर्णन, मार्मिक भाव-व्यञ्जना, गम्भीर विचार-संकेत और भाषण शैली की ओजस्विता—इन सबकी सहायता से ये बराबर एक विशेष प्रभाव की सृष्टि करते हैं ।”

इस प्रकार द्विवेदी युग में कुछ उत्कृष्ट भावात्मक एवं विचारात्मक निबन्ध-कारों को छोड़कर सभी लेखक निबन्ध के व्यक्तिपक्ष को दबा रहे थे । स्पष्ट-वादिता से भरे हुए इन निबन्धों में अर्जित ज्ञान की पुनरावृत्ति ही मिलती है,

सम्पूर्ण मानसिक सत्ता—अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय—का सामंजस्य नहीं ।

द्विवेदी युग के कुछ निबन्धकारों का स्वतन्त्र विकास भी हुआ है । इनमें मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दरदास और गुलाबराय मुख्य हैं । मिश्रबन्धु के निबन्ध उस युग की उपदेशमूलक प्रवृत्ति के परिचायक एवं ज्ञानवृद्धि में सहायक हैं । बाबू श्यामसुन्दरदास के निबन्धों में ओजपूर्ण शैली एवं सुष्ठु विचारों के गुम्फन ने उन्हें एक उत्कृष्ट विचारात्मक निबन्धकार के रूप में प्रस्तुत किया है फिर भी उसमें उनके शिक्षक पद की झलक मिलती है । बाबू गुलाबरायजी की चर्चा आगे करेंगे ।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के साथ निबन्ध-साहित्य में एक नये युग की अवतारणा होती है । इन्होंने विचारात्मक और व्यक्तित्व-प्रधान दोनों प्रकार के उत्कृष्ट निबन्ध लिखे । विचारात्मक निबन्धों के आलोचनात्मक, गवेषणात्मक एवं विवेचनात्मक आदि विविध रूपों का विकास शुक्लजी ने किया । इनके भावों या मनोविकारों पर लिखे गए निबन्ध अपनी विशेषता रखते हैं । इनमें शुक्लजी ने समाज में व्यवहृत प्रधान-प्रधान भावों पर ही विचार किया है । किन्तु इस विवेचन में उन्होंने शास्त्रीय पक्ष को आत्मानुभूति से समन्वित करके प्रस्तुत किया है इसलिए उनमें उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है । इस प्रकार मल्ल जी के शब्दों में 'शुक्लजी एक व्यवहारिक दर्शन का साहित्य और जीवन से सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित करना चाहते हैं ।' शुक्लजी की परम्परा में अर्थात् अन्तःप्रयास से निकली विचारधारा में मल्ल जी ने कुछ विभिन्न विचारधारा वाले निबन्ध लेखकों को गिनाया है जैसे पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, श्री अज्ञेय, श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री शिवदानसिंह चौहान । विचारात्मक एवं समीक्षात्मक निबन्ध लेखकों में प्रसिद्ध कवि जयशंकरप्रसाद, एवं पन्त, महादेवी, निराला, उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है । प्रसाद जी^१ और महादेवी जी^२ के निबन्ध गंभीर साहित्यिक विषयों को लेकर चले

१—काव्यकला तथा अन्य निबन्ध—जयशङ्करप्रसाद ।

२—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—महादेवी वर्मा ।

हैं। निराला की शैली में विशेष स्वच्छन्दता, विनोद एवं व्यंग्य है।

इस युग में प्रभावाभिव्यंजक और भावात्मक दोनों प्रकार के सुन्दर निबंध मिलते हैं। प्रथम प्रकार के निबन्ध साहित्य-समीक्षा से संबन्धित है। इस प्रकार के लेखकों में शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रमुख है। दूसरे प्रकार की शैली का सुन्दर रूप डा० रघुवीरसिंह, माखनलाल चतुर्वेदी इत्यादि के निबन्धों में मिलता है। इसी युग में वर्णनात्मक निबन्धों का परिचय भी मिलता है। यात्रा सम्बन्धी निबंधों में महादेवी वर्मा, देवेन्द्र सत्यार्थी के निबन्धों में प्राकृत दृश्यों में पाठक का मन रमाने का प्रयत्न है। राहुल जी के यात्री संबंधी निबंध अपनी विशेषता रखते हैं।

वर्तमान युग में निबन्ध साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ है। आज निबन्ध में नई-नई शैलियों का प्रयोग मिलता है। इस युग में समीक्षात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, अनुसंधानात्मक एवं सांस्कृतिक निबन्धों के अतिरिक्त संस्मरणात्मक निबन्धों का भी विकास हुआ। संस्मरणात्मक निबंध लेखकों में श्री गुलाबराय, महादेवी वर्मा, नरहरिविष्णु गाडगिल, देवेन्द्र सत्यार्थी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति प्रसिद्ध हैं। गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ' महादेवी जी की 'स्मृति की रेखाएँ' हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल' के कुछ निबन्ध संस्मरणात्मक निबंध हैं। अशोक के फूल में द्विवेदी जी के हृदय की कोमल भावनाओं, सरल एवं सहज व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। इनके निबंधों में उत्पीड़ित मानव की पुकार सुनाई पड़ती है। इसलिये शैली में भावुकता, करुणा, व्यंग्य एवं विनोद का सुन्दर मिश्रण हो गया है।

श्री पं० नरहरिविष्णु गाडगिल ने हिन्दी निबन्ध में एक नवीन टेकनीक का अनुसरण किया है। इनके संस्मरणात्मक निबन्धों में समाचारपत्रों की टेकनीक की झलक है। वस्तुतः वे लिखे भी समाचारपत्रों के लिए गए हैं। कुछ निबन्धों में जैसे 'काश हम मानवता का सम्मान करते', 'ग्यानू मरा नहीं है वह बचा बन गया है' इत्यादि में हृदय की कोमल वृत्तियों का बड़ा मार्मिक वर्णन है। इनके निबन्धों में एक स्वतन्त्र विचारक एवं स्वच्छन्द और महान व्यक्तित्व की छाप है। आज ऐसे निबन्धों का बहुत प्रचार है।

भगवतशरण उपाध्याय की 'कलकत्ता से पीकिंग' पुस्तक में पत्रों का संग्रह है। लेखक चीन में शान्ति सम्मेलन में शामिल होने गया और वहाँ से कुछ पत्र अपने परिवार के लोगों एवं मित्रों को लिखे। मित्रों में कवि, लेखक, उपन्यासकार, सरकारी अफसर सभी प्रकार के लोग हैं। इन पत्रों में वर्णनात्मक निबन्धों का सुन्दर रूप देखने को मिलता है। यह भी आज के हिन्दी निबन्ध साहित्य में नई टेकनीक है। इसमें लेखक ने 'जो देखा वह लिखा, देखा हुआ जितना लिखा जा सकता है।' उतना बीच-बीच में लेखक ने व्यक्तिगत भावों का भी सुन्दर प्रदर्शन (अपनी रुचि-अरुचि प्रकट कर) किया है।

संस्मरणात्मक निबन्धों में डायरी रूप में लिखे गए निबंध भी अपना विशेष महत्व रखते हैं। श्री सुन्दरलाल त्रिपाठी की 'दैनन्दिनी' में उनके पिछले पाँच-सात वर्षों के डायरी लेखन का संग्रह है। किंतु इसमें नित्यप्रति डायरी की सी असंबद्ध बहु वस्तु व्यापी और प्रकीर्णक चर्चा न करके लेखक ने अपने व्यक्तिगत जीवन में वर्षा, ईश्वर के अस्तित्व जैसी साधारण विचार तरंगों को लैम्ब की सी शैली में प्रकट किया है। लैम्ब की भाँति लेखक का पारिवारिक जीवन व्याधिपूर्ण रहा है इसलिए इसमें करुणा का पुट भी उसकी मार्मिकता को बढ़ाने के लिए दिया गया है।

यहीं पर भेंट के फलस्वरूप लिखे हुए निबंधों की चर्चा भी उपयुक्त रहेगी। हिन्दी में यह निबन्ध की नई टेकनीक है। इन निबन्धों में संस्मरणात्मक भावात्मक एवं वर्णनात्मक निबन्धों की विशेषताओं का मिश्रण है। ऐसे निबंधों की सबसे बड़ी विशेषता इनकी सरल एवं चित्रोपम शैली है। डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश की 'मैं इनसे मिला' पुस्तकों में उनके ऐसे ही निबन्धों का संकलन हुआ है।

संस्मरणात्मक निबंधों से मिलते-जुलते ही 'रेखाचित्र' (स्केच) हैं। यों तो महादेवी के संस्मरणात्मक निबन्धों की विशेषता उनके रेखा-चित्रों में है किन्तु यह भी निबन्ध साहित्य में एक नई टेकनीक है। रेखा-चित्र लिखने वालों में रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशचंद्र और राजेन्द्र यादव प्रसिद्ध हैं। बेनीपुरी के रेखा चित्र यथार्थ का भावनारंजित रेखा-रूप प्रस्तुत करते हैं। प्रकाश

चंद्र और राजेन्द्र यादव के रेखा चित्र यथार्थवादी हैं किन्तु उनमें वेदना की विवृति और व्यंग्य भी मिश्रित है।

प्रगतिवादी चारधारा से प्रभावित एवं सामाजिक क्रान्ति की भावनाओं को लेकर चलने वाले आधुनिक निबन्धारों ने भी निबन्ध की टेकनीक के कुछ नवीन प्रयोग किये हैं। इन निबन्धों में व्यक्तिपक्षकी प्रधानता और व्यंग्यात्मकता एवं कट्टरि से पाठक में तिलमिलाहट उत्पन्न करके का प्रयत्न है। ऐसे लेखकों में यशपाल, प्रभाकर माचवे, नामवरसिंह मुख्य हैं। शैली और प्रवृत्ति दोनों के विचार से इन निबन्धकारों ने हासोन्मुख प्रचीन रुढ़ियों एवं परंपराओं की धज्जी उड़ायी है और नवीन युग की चेतना की विविध-रूपिणी विचारधारा की प्रतिष्ठा की है। शैली में प्रखर व्यंग्य की अधिकता इसका साधन है।

सारांश यह है कि आज हिंदी का निबन्ध-साहित्य विविधरूपी आकर-प्रकार धारण करके युग की चेतना को प्रकट कर रहा है।

हिन्दी समालोचना साहित्य

यों तो साहित्यशास्त्र उतना ही प्राचीन है जितनी साहित्यिक रचना। और कुछ सुधी लोग तो यह भी कहते हैं कि साहित्यशास्त्र ही इन दोनों में अधिक प्राचीन है, फिर भी हिन्दी आलोचना का जो विकास आधुनिक काल में हुआ उस पर प्राचीन भारतीय आलोचना की परंपरा के साथ ही पाश्चात्य आलोचन-प्रणाली का भी प्रभाव पड़ा है। आधुनिक काल के गंभीर एवं उच्चकोटि की आलोचन-शैली के प्रवर्तक आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल ने भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों का सफल समन्वय अपनी आलोचना में किया है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्य की रचना और उसकी आलोचना की समानान्तर धाराओं की चर्चा करते हुए इन दोनों को एक दूसरे को प्रभावित करने वाला बतलाया है। वे लिखते हैं “वस्तुतः देश और समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्तियाँ एक ओर साहित्य निर्माण की दिशा का निश्चय करती हैं और दूसरी ओर समीक्षा का स्वरूप भी निर्धारित करती हैं।” वाजपेयी जी ने भक्तियुग की समीक्षा पद्धति में युगानुकूल भक्ति भावना की

प्रमुखता बतलाते हुए तुलसी के 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' और कबीर की साहित्यिक अनभिज्ञता की स्वीकृति को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। कबीर और तुलसी का साहित्य भक्ति-भावना की दृष्टि से ही श्रेष्ठ है। तुलसी भी तो अपने काव्य की श्रेष्ठता इसी भक्ति भावना के कारण मानते हैं—

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुतिसारा।

वाजपेयीजी के शब्दों में—“उस समय (भक्तियुग में) का समीक्षादर्श भी भक्ति-भावना को प्रमुखता देकर चला था। रचना के कलात्मक गुणों की हद तक उपेक्षा हो गई।” शृङ्गारकाल में आकर समीक्षा युगानुरूप 'रीति' रचना के आदर्श को लेकर चली और उसमें संस्कृत साहित्य शास्त्र का विकास हुआ। अलंकार, रस, नायिका-भेद आदि काव्य के भिन्न अङ्ग-उपाङ्गों के साथ ही गुण-दोष निरूपण भी हुआ। संस्कृत साहित्य की भाँति काव्य रचनाओं को रस, अलंकार, गुण, दोष आदि के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया गया। ऐसा ही प्रयत्न हेमचन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश के दोहों को उद्धृत करके किया था।

शृङ्गारकाल की समीक्षा पद्धति में एक मत अलंकारों को प्रधानता देने वाले केशव का है जो काव्य का सर्वोत्तम गुण अलंकार मानकर इतर काव्य को हीन घोषित करते हैं। उनका सिद्धान्त इसप्रकार है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्ता।

भूषन बिनु न, बिराजई कविता वनिता भित्त ॥

दूसरा मत रसवादी एवं हृदयपक्ष को प्रधानता देने वाले स्वच्छन्द-धारा के कवियों का है जो रीति के आधार पर रची हुई कविता को निकृष्ट मानते हैं और कविता में रस एवं हृदयपक्ष की पूर्णता पर जोर देते हैं तथा ऐसे ही काव्य को उत्कृष्ट काव्य घोषित करते हैं। ठाकुर कवि के शब्दों में शृङ्गार-काल के इस दूसरे समीक्षा सिद्धान्त को भी सुन लीजिए—

सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन,

सीखि लीनो जस औ प्रताप को कहानो है।

सीखि लीनो कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामनि,

सीखि लीनो मेर औ कुबेर गिरिआनो है ॥

ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूलि कहीं बाँधियत बानो है ।
डेल लो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कावित्त कीबो खेल करि जानो है ॥

इस प्रकार तत्कालीन रचनात्मक साहित्य की दो प्रमुख धाराओं के अनुरूप दो प्रमुख समीक्षा सिद्धान्तों की उद्भावना हुई ।

हिन्दी के मध्ययुग में कवियों या पुस्तकों के गुणदोष या सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने के लिए दूसरी पुस्तक तैयार करने की आधुनिक प्रणाली का प्रभाव है । यह तो आधुनिक युग एवं पाश्चात्य प्रभाव का ही फल है । फिर भी कवियों की विषमताओं का दिग्दर्शन कराने वाली उक्तियाँ एवं कवियों की विशेषताओं का निरूपण करने वाले छन्द मिल जाते हैं । इन उक्तियों में प्रायः तुलनात्मक समीक्षा पद्धति के दर्शन होते हैं । संस्कृत साहित्य में कालिदास, भारवि और माघ के सम्बन्ध में प्रसिद्ध इस उक्ति को देखिए—

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम् ।

नैषधे पदलालित्यं, माघे सन्ति त्रयोऽङ्गाः ॥

और इसी प्रकार की उक्ति मध्य युग में सूर, तुलसी और केशव पर भी मिलती है—

सूर सूर तुलसी ससी उडगुन केशवदाम ।

अबके कवि खद्योत सम जहँ-तहँ करत प्रकाश

कवि-प्रशस्ति एवं उसके गुणों का एक ही छन्द में वर्णन करने की पद्धति भी मध्ययुग में वर्तमान थी । संस्कृत साहित्य में कालिदास के सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।

श्रीतिः मधुरसांद्रासु मंजरीष्वबजायते ॥

मध्ययुग में नाभादासजी ने भक्तमाल में कुछ प्रसिद्ध भक्त कवियों का परिचय देते हुए कहीं-कहीं उनकी साहित्यिक विशेषताओं का उद्घाटन किया है । तुलसी और सूर के सम्बन्ध में उन्होंने एक-एक छप्पय लिखा है और उसमें इन दोनों कवियों के काव्य के दोनों पक्षों—भाव एवं कलापक्ष—के

सौन्दर्य का उद्घाटन किया है।

मध्ययुग के अन्तिम समय में घनानन्द के कवित्तों का संग्रह करने वाले ब्रजनाथ ने भी घनानन्द के आलोचक के गुणों का निरूपण करते हुए उनकी कविता के भावगत एवं कलापक्ष के सौन्दर्य का उद्घाटन दो सवैयों में बड़ी ही मार्मिकता से किया है—

नेही महा, ब्रजभाषा प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै ।
जोग-वियोग की रीति मैं कोविद, भावना-भेद-स्वरूप को ठानै ॥
चाह के रंग में भोज्यो द्वियो, बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानै ।
भाषा प्रवीन, सुखन्द सदा रहै, सो घन जी के कवित्त बखानै ॥
प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सु कहै, इहि भाँति की बात छकी ।
सुनि के मय के मन लालच दोरे, पै बौरै लखैं सब बुद्धि-चकी ॥
जग की कविताई के धोखें रहैं ह्यौ प्रवीनन की मति जाति जकी ।
समुझै कविता घनआनन्द की हिय आँखिन नेह की पीर तकी ॥

इन छन्दों का विस्तार से विवेचन कर इनकी समीक्षा पद्धति का उद्घाटन करने से अधिक विस्तार हो जायगा। इसलिए अब हम भारतेन्दु-युग की समीक्षा-पद्धति का रूप विवेचन करेंगे।

भारतेन्दुयुग में कवि या पुस्तक के गुण दोष की विवेचना पत्रिकाओं में छपने वाले लेखों के रूप में प्रारम्भ हुई। इसके पुरस्कर्ता पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' थे जिन्होंने अपनी 'आनन्द-कादम्बिनी' पत्रिका में लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक की बड़ी विशद और कड़ी आलोचना निकाली। नवीन युग की चेतना और गद्य के विकास के प्रभाव से इस युग की आलोचना में बौद्धिकता का प्रभाव प्रमुखता पाने लगा। आधुनिक काल में गद्य के अङ्ग-उपाङ्गों की विवेचना में नवीन बौद्धिक सिद्धान्त अर्थात् कलापक्ष की विशेषताओं का उद्घाटन हुआ। इस युग में अनुवादों की भी भरमार थी। अनुवादक की आलोचना उसके मूल भावों की रक्षा करने की सामर्थ्य एवं भाषा की दृष्टि से होती थी।

भारतेन्दु युग में कवियों के गुण-दोष दिखाने वाले लेखों की ही भरमार रही, कोई पुस्तक नहीं निकली। ऐसा प्रयास प्रथम बार सरस्वती के यशस्वी

सम्पादक आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' लिखकर किया। यह अनुवादों के सम्बन्ध में थी और इसमें दोषों का ही उद्घाटन हुआ था इसलिए यह एकांगी है। इसमें रचनागत विशेषताओं एवं गुणों के विवेचन का सर्वथा अभाव है। द्विवेदीजी ने अपनी सरस्वती के द्वारा एक नवीन समीक्षा पद्धति का विकास किया। उन्होंने सरस्वती में प्रकाशित होने के लिए आने वाली रचनाओं तथा अन्य साहित्यिक प्रकाशन के गुण-दोषों का बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया और इस प्रकार सम्पादकीय समीक्षा पद्धति का विकास किया। इसके द्वारा उन्होंने दो महत्वपूर्ण कार्य किए, एक तो भाषा-शैली का परिमार्जन किया दूसरे नवीन युग की सामाजिक आवश्यकताओं एवं राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरणा ग्रहण कर साहित्य निर्माण का वातावरण तैयार किया। उनकी प्रेरणा के दर्शन हमें राष्ट्रकवि मैथिलीशरण, रामचरित उपाध्याय प्रभृति साहित्यिकों की रचनाओं में होते हैं। द्विवेदीजी ने समीक्षा की दो और शैलियों का विकास किया। एक निर्णयात्मक है, जिसमें शास्त्रीय नियमों के आधार पर आलोचना की गई है जैसे 'कालिदास की निरंकुशता' में। इसमें कालिदास के ग्रन्थों के व्याकरण, छन्द इत्यादि की त्रुटियों का निरूपण है। दूसरी व्याख्यात्मक, जिसमें कवि और उसके काव्य का सहृदय सापेक्ष वर्णन है जैसे 'विक्रमदेव चरित चर्चा' और 'नैषध चर्चा' में। इसी प्रकार द्विवेदीजी की कुछ परिचयात्मक आलोचनाओं में केवल रचनाओं का सार एवं स्वल्प गुण-दोष परिचय है। उनकी आलोचना में कहीं कहीं तुलनात्मक समीक्षा पद्धति के भी दर्शन होते हैं जैसे 'अश्वघोष कृत' सौन्दरनन्द काव्य की आलोचना में अश्वघोष की कालिदास से तुलना की है। किन्तु इस तुलनात्मक समीक्षा पद्धति का सुष्ठु रूप मिश्रबन्धुओं में और उत्कर्ष पं० पद्मसिंह शर्मा की आलोचनाओं में दिखाई पड़ता है। मिश्रबन्धुओं ने देव और बिहारी की ऊँच-नीच के जिस विवाद का प्रारम्भ किया उससे आलोचना साहित्य बहुत समृद्ध हुआ। देव और बिहारी में से एक को ऊँचा और दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करने में बहुत से आलोचकों ने अपनी बुद्धि का प्रकाश विकीर्ण किया और हिन्दी-आलोचना-साहित्य को समृद्ध किया। तुलनात्मक-आलोचना-साहित्य में पं० पद्मसिंह शर्मा की बिहारी की समीक्षा

का विशेष महत्व है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—“काव्य के कला-पक्ष तथा उसके रचनात्मक सौन्दर्य का जैसा सुन्दर उद्घाटन पं० पद्मसिंह शर्मा ने किया, वह बहुत कुछ अपूर्व ही था। . . . उन्होंने बिहारी के दोहों की संस्कृत और उर्दू फारसी के समान-धर्मी कवियों के पद्यों से बड़ी चमत्कारपूर्ण तुलना की, जिससे सारा हिन्दी-संसार उनकी ओर आकृष्ट हो गया। तुलनात्मक समीक्षा से विभिन्न भाषाओं के अध्ययन की नई प्रवृत्ति तो जाग्रत ही हुई, नए कवियों को अपने अनगढ़ उद्गारों को माँजने और सँवारने की प्रेरणा भी मिली। इस दृष्टि से शर्माजी की समीक्षा नए रचनात्मक साहित्य के लिए कुछ कम उपादेय नहीं रही।” शुक्लजी ने इनकी समीक्षा पद्धति को रूढ़िगत कहा है। इसमें कवियों की विशेषताओं के अन्वेषण और अन्तः-प्रवृत्तियों के उद्घाटन का अभाव है और चुहलबाजी की अधिकता। इसलिए इसमें आधुनिक समालोचना पद्धति का परिचय नहीं मिलता। यह कार्य आगे चलकर रामचन्द्र शुक्ल ने किया। इस प्रकार द्विवेदी-युग में समीक्षा की पाँच पद्धति मिलती हैं—निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक, परिचयात्मक, तुलनात्मक और सम्पादकीय एवं प्रेरणात्मक। फिर भी इस युग की समीक्षा रूढ़िगत है, आधुनिक समीक्षा के सिद्धान्तों का उसमें अभाव ही है।

आधुनिक समीक्षा के प्रधान लक्ष्य को प्रकाश में लाने वाले पं० रामचन्द्र शुक्ल हैं। इन्होंने प्रथम बार कवियों की विशेषताओं के अन्वेषण और अन्तः-प्रवृत्तियों के उद्घाटन का प्रयत्न किया। इन्होंने प्राचीन रस-पद्धति के साथ पाश्चात्य आलोचन-पद्धति का मिश्रण करके मध्ययुग के प्रसिद्ध कवि सूर, तुलसी और जायसी इत्यादि के काव्य की अन्तः-प्रवृत्तियों का उद्घाटन किया और इस प्रकार अपनी मानसिक सम्बेदना के द्वारा उनके काव्य सौन्दर्य का निखार साहित्य प्रेमियों को दिखाया। शुक्लजी की यह आलोचना शैली व्यवहारिक है जिसके मुख्य तत्व व्याख्या, तुलना, रस और अलंकार का मनो-वैज्ञानिक दर्शन एवं मानसिक संवेदना है। इन सब तत्वों के मिश्रण से उनकी जो आलोचन-शैली बनी उसके द्वारा मध्ययुग के कुछ प्रसिद्ध कवियों के काव्य के सौन्दर्य-उद्घाटन का स्तुत्य प्रयत्न हुआ। शुक्ल जी ने पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में “रस और अलंकार शास्त्र को नई मनोवैज्ञानिक दीप्ति

दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया ।..... दूसरे शब्दों में शुक्लजी ने समीक्षा के भारतीय साँचे को बना रहने दिया ।.....उन्होंने उच्चतर जीवन-सौंदर्य का पर्याय बनाकर रस और अलंकार पद्धति का व्यवहार किया । जहाँ तक उनकी प्रयोगात्मक आलोचना है, उन्होंने तुलसी और जायसी जैसे उच्चतर कवियों को चुना और उनके लुँचे काव्य-सौंदर्य के साथ रस और अलंकार का विन्यास करके रस-पद्धति को अपूर्व गौरव प्रदान किया ।” इस प्रकार वाजपेयी जी के शब्दों में शुक्ल जी ने ‘हिन्दी समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने में युगप्रवर्तक का कार्य किया ।’ शुक्ल जी ने पहली बार रचनाकार की व्यक्तिगत मनः स्थिति एवं युग को बनाने वाली विविध परिस्थितियों का विश्लेषण करके रचना की सम्यक् आलोचना करने की नवीन समीक्षा पद्धति का विकास किया । फिर भी मनोविश्लेषणात्मक शैली का शास्त्रीय पक्ष आलोचना-साहित्य में प्रस्फुटित नहीं हुआ ।

इस प्रकार शुक्ल जी ने एक नवीन समीक्षा पद्धति का प्रवर्तन किया जिसके मूल में भारतीय रस पद्धति एवं अलंकार-शास्त्र और पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्यवाद का अपूर्व सामंजस्य हुआ है । इसमें रचनकार के मनोविश्लेषण का भी प्रयत्न है तथा उसकी अन्तःवृत्तियों का उद्घाटन करके उसकी रचना में व्यक्त काव्य-सौंदर्य का मानसिक संवेदना के स्तर पर निखार दिखलाया है जिसमें गहरी अनुभूति, सहृदयता एवं मार्मिक विश्लेषण है । इसके अतिरिक्त शुक्लजी की आलोचना शैली की एक और विशेषता है, वह यह कि शुक्लजी अपनी व्याख्यात्मक आलोचनाओं में स्थान-स्थान पर कुछ सिद्धान्त भी प्रस्तुत करते जाते हैं जैसे—“प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शां स्थलों को पहचान सका है या नहीं ।”

शुक्लजी ने सैद्धान्तिक समीक्षा पद्धति को भी अपनाया और ‘कविता क्या है’ जैसे सिद्धान्त पक्ष की विवेचना करने वाले समीक्षात्मक लेख लिखे हैं । इनमें उन सिद्धान्तों की विवेचना है जिनके आधार पर सत्साहित्य की प्रतिष्ठा होती है । शुक्लजी ने गवेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक आलोचना शैली के आधार पर अपने इतिहास की रचना करके साहित्यिक प्रवृत्तियों

का विवेचन प्रस्तुत किया। इस साहित्यिक प्रवृत्तियों के विवेचन में शुक्लजी की व्यक्तिगत अभिरूचि जगह-जगह मुखरित है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में “शुक्लजी ने एक व्यापक समीक्षादर्श का निरूपण अवश्य किया परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह पूर्णतः तटस्थ और निभ्रान्त समीक्षादर्श रहा हो। विशेषतः शुक्लजी के दार्शनिक विचार और धारणाएँ तथा उनका नीतिवादी दृष्टिकोण उनकी वैयक्तिक रुचि के परिचायक थे।”

शुक्लजी ने आलोचना साहित्य की बहुमुखी अभिवृद्धि की, उसे दिशा दी। उसमें आधुनिकता का समावेश कराया। उनके समीक्षादर्शों को कुछ परिष्कार के साथ अपनाने वाले बहुत से समालोचक हुए।

शुक्लजी की रसवाद की भूमिका कर चलनेवाली व्यवहारिक (प्रयोगात्मक) समीक्षा पद्धति को अपनाने वाले दो प्रमुख आलोचक कृष्णशंकर शुक्ल और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र हैं। इतिहास का प्रवृत्तिमूलक कार्य बढ़ाने वालों में बाबू श्यामसुन्दरदास, डा० रामकुमारवर्मा और हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम उल्लेनीय है। यों तो छायावाद के प्रमुख आलोचक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी पर भी शुक्लजी की व्यवहारिक-समीक्षा पद्धति का प्रभाव पड़ा है किन्तु अत्याधुनिक मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि को व्यवहारिक समीक्षा पद्धति में मिलाकर एक नवीन प्रयोग करने के कारण उनका अध्ययन हम आगे करेंगे।

छायावादी कवियों ने भी शुक्लजी के साथ ही हिंदी आलोचना के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। प्रसाद, पन्त निराला और महादेवी ने अपनी पुस्तकों की भूमिकाओं के रूप में सैद्धान्तिक समीक्षा का सुष्ठु रूप रखा। इनमें उनके नवीन विचारों का आलोक है; एक नवीन सौन्दर्यवादी दृष्टि की भूमिका है; शिल्प सौन्दर्य की बारीकी का उद्घाटन है। वस्तुतः छायावादी काव्य के आकलन में शुक्लजी की आलोचना में तटस्थ एवं निभ्रम दृष्टि का अभाव हो गया था और उनकी व्यक्तिगत अभिरूचि उभड़कर सतह पर आ गई थी। आधुनिक काव्य की संयत समीक्षा की इस कमी को छायावादी कवियों ने अपने-अपने साहित्यसृजन के समय के चिन्तन कणों से निर्मित समीक्षा-साहित्य से पूरा किया। इनमें छायावादी कवियों ने जो सृजनात्मक प्रेरणा दी उससे युग के साहित्य की दिशा का निर्देशन ही नहीं हुआ वरन्

युग की समीक्षा-पद्धति भी प्रभावित हुई और कुछ प्रभावशाली अलोचक इस प्रभाव को लेकर प्रकट हुए। इनमें प० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र और शांतिप्रिय द्विवेदी प्रमुख हैं।

यों तो हिन्दी में शोधकार्य का प्रारंभ नामादास के भक्तमाल से और विधिवत् सूत्रपात शिवसिंह सेगंर के 'शिवसिंह सरोज' से माना जा सकता है किन्तु आधुनिक अर्थ में यह शोधकार्य प्रमुखतया विश्वविद्यालयों में पी० एच० डी० और डी० लिट आदि के लिए होने वाले शोधों से ही संबंधित है और इसका प्रारंभ शुक्लजी के समय से ही हुआ है। इस शोध कार्य में आज बहुत विकास हो चुका है। इस आलोचना-साहित्य के चार प्रमुख आधार-गवेषणात्मक खोज, तारतम्यिक तुलना, मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि एवं वैज्ञानिक विश्लेषण हैं। आज शोध ग्रन्थों का तांता लगा हुआ है। इससे आलोचना साहित्य के विकास में बहुत योग मिला।

यहाँ पर हिन्दी की भाषा-वैज्ञानिक समीक्षा की चर्चा भी उपयुक्त रहेगी। विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा के सूत्रपात के साथ भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का महत्व बढ़ा। डा० मंगलदेवशास्त्री ने तुलनात्मक भाषा-शास्त्र लिखकर इसका सूत्रपात किया। इनके बाद बाबू श्यामसुन्दरदास ने इस कार्य को और बढ़ाया। इस अध्ययन में बाबूजी ने सुबोध वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति को अपनाया। इनके बाद नलिनीमोहन सान्याल, डा० धीरन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना ने इस कार्य को बढ़ाया। डा० सक्सैना ने ऐसे सूखे और जटिल विषय को बड़ी सरल एवं सरस शैली में प्रस्तुत किया है।

शुक्लजी के समय में शास्त्रीय समीक्षा पद्धति का पल्लवन भी हुआ। अलंकार और रस का शास्त्रीय विवेचन करने वालों में कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र, गुलाबराय, रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध, केशवप्रसाद मिश्र एवं डा० श्यामसुन्दरदास के नाम उल्लेखनीय हैं। शुक्लजी ने अपनी रस मीमांसा में प्राचीन शास्त्रीय विवेचन की मौलिक व्याख्या की है और पाश्चात्य प्रभावजन्य नवीन भ्रान्तियों का निराकरण कर उसके सत्स्वरूप की स्थापना की है। पं० केशवप्रसाद मिश्र का 'मधुमति भूमिका' का विवेचन भी रस की आधुनिक और मौलिक व्याख्या है। डा० श्यामसुन्दरदास ने साहित्यालोचन

में भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र दोनों के अध्ययन का उपयोग किया है।

हिन्दी-आलोचना का वर्तमान युग (शुक्लोत्तर युग) बहुत समृद्ध है। नवीन समीक्षा-पद्धतियों का आविर्भाव हो रहा है। कुछ प्राचीन पद्धतियों का भी विकास हो रहा है। इस प्रकार वर्तमान युग में निम्नलिखित समीक्षा पद्धतियाँ विकसित हो रही हैं :—

(१) कवियों की विशेषताओं का उद्घाटन करने वाली शुक्लजी की व्यवहारिक समीक्षा-पद्धति। इस पद्धति में प्राचीन रस-बोध के सिद्धान्त ही आधारभूत बने हुए हैं। इस प्रकार की समालोचना का एक शास्त्रीय आधार है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बाबू गुलाबराय प्रभृति विद्वानों का समीक्षा प्रायः इसी पद्धति पर हो रही है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस समीक्षा पद्धति को साहित्यिक शैली का नाम दिया है।

(२) व्यवहारिक समीक्षा पद्धति से कुछ मिलती जुलती निर्णयात्मक-समालोचना की पद्धति है। इस पद्धति का व्यवहार उन आलोचकों में मिलता है जो अंग्रेजी साहित्य के नए सैद्धान्तिक विवेचनों और परीक्षा-विधियों का ज्ञान रखते हैं तथा उसका व्यवहारिक समीक्षा पद्धति से समन्वय करके हिन्दी साहित्य की वृत्तियों का आकलन करते हैं। यह पद्धति डा० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र की नवीन समीक्षा-पद्धति है। और इसका सुष्ठु रूप विनयमोहन शर्मा में मिलता है। विनयमोहन शर्मा के सहृदय समीक्षक महेन्द्र भटनागर के शब्दों में इस समीक्षा-पद्धति का बड़ा मार्मिक वर्णन हुआ है—“हिन्दी साहित्य में आलोचना का स्वरूप इधर दस पन्द्रह वर्षों में बहुत कुछ बदल गया है। आलोचना के प्राचीन मान हटाए जा रहे हैं और उसे पहले से अधिक वैज्ञानिक संतुलित एवं तुलनात्मक रूप दिया जा रहा है। आचार्यों द्वारा निर्मित, साहित्य के विविध प्रकारों के संबंध में निश्चित धारणाओं और नियमों को सामने रखकर अब साहित्य की छानबीन नहीं होती, वरन् साहित्य को समाज का प्राण समझकर उसके स्वस्थ एवं जीवनदायी तत्वों को ढूँढा जाता है।”..... आजकल हिन्दी आलोचना में यदि एक ओर प्राचीन संस्कृत आचार्यों की साहित्यगत रूढ़िवादी मान्यताओं को स्थान दिया जाता है तो दूसरी ओर फ्रायड, कॉडवेल आदि आधुनिक विचारकों की उपेक्षा भी नहीं

की जाती ।” आगे महेन्द्र भटनागर जी ने इन दो सिद्धान्तों को पृथक् रूप से ग्रहण करने वाले दो समालोचकों से भिन्न इन दोनों का समन्वय करने वाले आलोचकों की चर्चा की है—“जिन्होंने प्राचीन और नवीन दोनों को अपनाया है । किसी के प्रति उपेक्षा की भावना नहीं दर्शायी है । प्राचीन मान्यताओं में जो वैज्ञानिक हैं उन्हें अपनाकर नवीन विचारकों के स्वस्थ दृष्टिकोण पर जिन आलोचकों की दृष्टि केन्द्रित है उनमें आचार्य विनयमोहन शर्मा का नाम प्रमुख है ।” अपने लेख के अन्त में लेखक ने लिखा है—“विनयमोहनजी का दृष्टिकोण पाश्चात्य कला-प्रयोगों और प्राचीन भारतीय आदर्शों के स्वस्थ समन्वय का है ।”

(३) निर्णयात्मक समीक्षा पद्धति से मिलती जुलती एक समीक्षा शैली और प्रचलित है जिसे कुछ सुधी लोग स्वच्छन्दतावादी, सौष्ठववादी या सांस्कृतिक समीक्षा धारा नाम देते हैं । यह समीक्षा पद्धति शुक्लजी की साहित्यिक अथवा व्यवहारिक समीक्षा का ही विकसित रूप है । पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में “इसे हम तटस्थ और ऐतिहासिक भूमिका पर उद्भावित साहित्यिक समीक्षा कह सकते हैं, जिसमें विभिन्न युगों के सांस्कृतिक और दार्शनिक आदर्शों के आकलन के साथ रचना की मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विशेषताओं के अध्ययन का उपक्रम है । इसी का नया निदर्शन नए समीक्षकों ने उपस्थित किया । एक प्रकार से यह शुक्लजी के समीक्षा-कार्य को ही आगे बढ़ाने का उपक्रम था । ... इसकी प्रमुख विशेषता ऐतिहासिक और परिवर्तनशील परिस्थितियों के अध्ययन द्वारा रचनाकार के विशिष्ट काव्य-मूल को प्रतिष्ठित करना है ।” इस समीक्षा-पद्धति के विकास में आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी ‘कबीर’ नामक आलोचना की पुस्तक से महत्वपूर्ण योग दिया है । द्विवेदी जी इस धारा के प्रमुख आलोचक हैं । ‘आपकी पैनी दृष्टि, मौलिक सूझ, वैज्ञानिक विवेचना, प्रभावकारी शैली से युक्त होकर पाठकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है । इस धारा के अन्य आलोचकों में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का स्थान महत्वपूर्ण है । आपने ‘हिन्दी साहित्यः बीसवीं शताब्दी’ और ‘आधुनिक हिंदी साहित्य’ में अपनी गंभीर एवं प्रौढ़ आलोचना शैली का परिचय दिया है । शान्तिप्रिय के ‘ज्योति विहग’ में भी इस समीक्षा पद्धति का

परिचय मिलता है ।

(४) तुलनात्मक समीक्षा पद्धति का प्रारंभ द्विवेदी युग में ही मिश्रबन्धुओं ने किया और उत्कर्ष पं० पद्मसिंह शर्मा ने । किन्तु शुक्लोत्तर तुलनात्मक समीक्षा इनसे भिन्न है । द्विवेदी युग की तुलनात्मक समीक्षा का आधार शास्त्रीय था । आज उस शास्त्रीय आधार को छोड़कर व्याख्यात्मक आधार को लेकर चलने वाली प्रसिद्ध तुलनात्मक समीक्षा शचीरानी गुर्गू हैं । इन्होंने अपने 'साहित्य दर्शन' में अपनी तुलनात्मक समीक्षा का परिचय दिया है । इसमें लेखिका ने समस्त विश्व साहित्य के साथ हिंदी-साहित्य का सामंजस्य एवं मूल्यांकन निरूपित किया है । इस प्रकार कालिदास और शेक्सपीयर, तुलसी और मिल्टन, टैगोर और टालस्टाय, प्रेमचन्द और गोर्की, गेटे और प्रसाद, निराला और ब्राऊनिंग, मैथिलीशरण और राबर्ट बर्न्स, महादेवी और क्रिस्टना रोज़ेटी, रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड, जैनेन्द्र और मेरीडिथ इत्यादि निबन्ध तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रयत्न है । इन तुलनात्मक समीक्षा के निबन्धों में लेखिका ने विश्लेषण-प्रधान व्याख्या-शैली को अपनाया है । इस प्रकार लेखिका ने हिंदी साहित्य के प्रमुख रचनाकारों को विश्व साहित्य के प्रमुख रचनाकारों की पृष्ठभूमि में रखकर देखने का मौलिक प्रयास किया है ।

(' ५) प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति—यह पद्धति कई रूपों में मिलती है । कहीं यह पूर्णतया मार्क्सवादी है और कहीं मार्क्स और फ्रायड का मिश्रण है । प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति का मुख्य आधार मार्क्सवादी दर्शन है । इसलिए यह साहित्य के मूल्यांकन का मुख्य आधार आर्थिक स्थिति और राजनीति को मानता है । इसी को संयत पदावली में समाजवादी यथार्थवाद कह सकते हैं । रूस में मैक्सिम गोर्की ने इसकी नींव डाली । पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'साहित्य के स्वस्थ आधार को और उसके स्वाभाविक विकास-क्रम को किसी कठोर मतवाद के साथ जोड़कर' चलने वाली इस समीक्षा पद्धति को बहुत अच्छा नहीं बतलाया है । साथ ही पश्चिमी साहित्य में मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति बहुत प्रगतिशील एवं सामाजिक है, हिन्दी में उसका स्वस्थ रूप नहीं मिलता । वाजपेयीजी ने इस त्रुटि का उद्घाटन इन शब्दों में किया है—“केवल

मतवादी शब्दावली का व्यवहार करते हुए समीक्षाएँ की जा रही हैं, व्यक्तियों को प्रमुखता दी जा रही है, उनकी कृतियों और उनके साहित्यिक सौष्टव को नहीं।” तटस्थ अनुशीलन एवं संतुलित समीक्षा दृष्टि के अभाव के कारण प्रगतिवादी समीक्षा के नाम पर रचनाकारों पर व्यक्तिगत रूप से कीचड़ उछाली जा रही है। डा० रामविलास शर्मा, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, डा० रांगेयराघव, अमृतराय इत्यादि ने एक दूसरे पर व्यक्तिगत रूप से जो कीचड़ उछाली है वह प्रगतिवादी समीक्षा का निकृष्ट रूप है। स्थानाभाव के कारण हम इस चर्चा को अधिक नहीं बढ़ायेंगे। फिर भी प्रगतिवादी समीक्षा का महत्व है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में “उसने दो वस्तुएँ मुख्य रूप से दी हैं। प्रथम यह कि काव्य-साहित्य का संबंध सामाजिक वास्तविकता से है, और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और सवेदनशील है। द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना दूर होगा वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और हासोमुख होगा। इस प्रकार साहित्य की सौष्टव सम्बन्धी एक नई माप-रेखा और एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है।” सारांश यह है कि प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति ने साहित्य-सृजन का एक स्वस्थ मानदण्ड प्रस्तुत किया है और हिन्दी समीक्षा के विकास में महत्वपूर्ण योग प्रदान किया है। प्रगतिवादी समीक्षकों में प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, डा० रांगेयराघव, शिवदानसिंह चौहान, दिनकर, अमृतराय एवं भगवतशरण उपाध्याय प्रमुख हैं।

(६) मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा—इस प्रकार की समीक्षा में साहित्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष का उद्घाटन होता है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसके मूलवर्ती मंतव्य का प्रकाशन करते हुए लिखा है—“इसका मूलवर्ती मंतव्य यह है कि साहित्य की सृष्टि व्यक्ति की बाह्य या सामाजिक चेतना के आधार पर उतनी नहीं होती, जितनी उसकी अव्यक्त या अन्तरंग चेतना के आधार पर होती है। इस अन्तरंग चेतना का विश्लेषण प्रसिद्ध मनोविश्लेषक सिगमंड

फ्रायड ने एक विशेष मतवाद के रूप में किया है। वह मुख्य तथ्य यह है कि मानव का मूल या आदिजात मानस ही वह आधारभूत सत्ता है जिस पर व्यक्ति की शैशवावस्था से अनेक प्रतिरोधी संस्कार पड़ते हैं और कुंठाएँ बनती हैं। सामाजिक जीवन में वे कुंठाएँ बुद्धि द्वारा शासित रहती हैं, किन्तु स्वप्नावस्था में वे विद्रोह करती हैं और इच्छातृप्ति का मार्ग निकालती हैं। साहित्य में भी यह इच्छा-तृप्ति की प्रक्रिया चला करती है, विशेषकर काव्य और कल्पना प्रधान साहित्य में। साहित्य की समस्त रूप-सृष्टि इस मूलभूत इच्छा तृप्ति का ही एक प्रच्छन्न प्रकार है।” इस प्रकार फ्रायड्जीन मनोविश्लेषण का यह सिद्धान्त साहित्यिक कृतियों की मूलभूत प्रेरणा में मानसिक कुंठाओं को प्रमुख स्थान देता है।

इससे भी आगे बढ़कर फ्रायड ने मनुष्य के सौन्दर्य बोध एवं रस पिपासा के मूल में भोग कामना का प्राधान्य मानकर साहित्यिक रचनाओं में दमित भोग कामना का प्रभाव ढूँढ़ने की प्रेरणा दी। साहित्य में लेखक की अतृप्त वासनाओं की तृप्ति को महत्वपूर्ण माना गया। डा० दशरथ ओझा ने फ्रायड के इस सिद्धान्त को अपने शब्दों में इस प्रकार रखा है—‘उन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण से देखा कि अपनी सहजात प्रवृत्ति से प्रेरित होकर स्त्री-पुरुष मिलना चाहते हैं। मनुष्य की इन समस्त प्रवृत्तियों में सुख सम्भोग की प्रवृत्ति सबसे बढ़कर प्रचण्ड एवं उद्दाम होती है। किन्तु मनुष्य ने भोग के साथ संयम का महान आदर्श ग्रहण किया है। उससे सदा उसकी सौन्दर्यानुभूति स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवर्तित हुई है। यह सौन्दर्यानुभूति जब उसके अन्तर के रस से सित्त होकर आत्म-प्रकाश के लिए आकुल हो उठती है, तभी साहित्य, शिल्प आदि ललित कलाओं की सृष्टि संभव होती है।’ फ्रायड्जीन विचारधारा को पूर्णतया स्वीकार करके चलने वाले आलोचक डा० नगेन्द्र हैं। इन्होंने काम को ही कलाविकास के मूल में देखकर अपनी समीक्षा धारा का विकास किया है। अज्ञेय जी भी जहाँ यौन वर्जनाओं को लेकर चले हैं वहाँ फ्रायड्जीन परम्परा का विकास करते हुए दिखाई पड़ते हैं। एकान्त फ्रायड के सिद्धान्तों को न मानकर समाजशास्त्रीय विचारों से उनका समन्वय करके अपनी समीक्षा धारा को प्रवाहित करने वालों में श्री इलाचन्द्र जोशी का कार्य महत्वपूर्ण है।

उन्होंने फ्रायड के मनोविश्लेषण को ही एकमात्र आधार न मानकर मार्क्स के समाजशास्त्रीय दर्शन को भी महत्वपूर्ण माना है। इन्होंने साहित्य-सृजन की मूलभूत प्रेरणा में निरी वैयक्तिक अनुभूति को एकमात्र तत्व न मानकर साहित्य की मूलवर्ती समाजिक और सांस्कृतिक सत्ता को भी स्वीकार किया है। इस प्रकार निरे दिवा-स्वप्न वाले फ्रायडो न मनोविश्लेषण के आधार को इन्होंने सामाजिक आदर्शों के अनुरूप बनाया है। इसीलिए वर्तमान मनो-विश्लेषणात्मक समीक्षा करने वालों में इलाचन्द्र जोशी का स्थान अन्यतम है।

इस समीक्षापद्धति में भी कुछ त्रुटियाँ हैं। यह केवल साहित्य की रचना प्रक्रिया पर प्रकाश डालती है। उसमें व्यक्त भावों की साहित्यिक समीक्षा प्रस्तुत नहीं करती। मनोविश्लेषण को प्रमुखता देने के कारण इसमें गत्यवरोध एवं भ्रान्ति उत्पन्न करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। मनोविश्लेषण की भूमिका को साहित्यिक समीक्षा का आधार बनाना स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचय है, किंतु इसे एकमात्र समीक्षा सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करके साहित्यिक-समीक्षा के ठोस आधार को भुला देना त्रुटिपूर्ण है।

यों तो आज आलोचना साहित्य का भाण्डार परीक्षोपयोगी 'एक अध्ययन' एवं 'सरल अध्ययनों' से भरा जा रहा है किन्तु उनमें संकलन की प्रवृत्ति प्रमुख है, इसलिए वह विशुद्ध एवं मौलिक समीक्षा का रूप नहीं ले सकता न उसका कोई स्थायी महत्व ही है। इसी प्रकार आज मनोवैज्ञानिक अध्ययनों का भी बाहुल्य हो रहा है किन्तु इनका उथलापन ही इनकी क्षणभंगुरता का कारण है। गंभीर और चिरस्थायी समालोचना के तीन प्रमुख तत्व शास्त्रीय भूमिका, भावपक्ष एवं लोकपक्ष हैं जिनका समन्वय करने वालों में आचार्य डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्रभृति उल्लेखनीय हैं। अस्तु।

